वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४६ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९३

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

गाथा

तिमिर हरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विषया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

काव्य

तिमिर विनाशक हो यदि दृष्टि,
दीपक का क्या करना ?

तू अनन्त की दीप शिखा है,
बुझने से क्या डरना ?

तिमिर खोजने पर न मिलेगा,
यदि तू सम्यक् दिट्ठी ।
तिमिर हरा जइ दिट्ठी ॥

तरस रहे वट-वृक्ष छाँह को,
किससे माँगे छाया ।

बदरी नीर बिना घिर आई,
मन पंछी है प्यासा ।

सरिताओं के सूखे आँचल,
तल की दिख रही मिट्टी ।
तिमिर हरा जइ दिट्ठी ॥

काया के मन्दिर में आकर,
अजर अमर है ठहरा ।

बाहर देखो घात लगाये,
मरण दे रहा पहरा ।

अपनी ही अर्थी को काँधा,
देता मिथ्या दिट्ठी ।
तिमिर हरा जइ दिट्ठी ॥

—मिश्रीलाल जैन, गुना

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४६ किरण १

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०५०

जनवरी-मार्च १९९३

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै ?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जाको जिनवाणी न सुहावै ॥
वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे ।
कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन बावै ॥ऐसा०॥
रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै ।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ॥ऐसा०॥
पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावै ।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ॥ऐसा०॥
ज्यों गृह में संचे बहु अंघ, त्यों वन हू में उपजावै ।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ॥ऐसा०॥
आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै ।
धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै ॥ऐसा०॥

प्राचीन भारत की प्रसिद्ध नगरी—अहिच्छत्र

☐ डॉ० रमेश चन्द्र जैन

नाम और स्थिति :

अहिच्छत्र या अहिच्छत्रा उत्तर पचाल की राजधानी थी। भागीरथी नदी उत्तरएवं दक्षिण पचालके मध्य विभाजक रेखा थी। वैदिक ग्रन्थों मे इस देश का एक पूर्वी एवं पश्चिमी भाग बताया गया है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में इसका उल्लेख किया है। योगिनी तन्त्र मे इसका वर्णन आता है। दिव्यावदान के अनुसार उत्तर पंचाल की राजधानी हस्तिनापुर थी किन्तु कुम्भकार-जातक मे कम्पिलापुर को इसकी राजधानी बतलाया गया है।

अहिच्छत्र टालेमी के यूनानी अदिसद्र के अधिक समीप है। इसे छत्रपती भी कहा जाता था। आषाढसेन के पभोसा गुहालेख मे जो लगभग ई० सन् के आरम्भ का है, अधिछत्र नाम प्राप्त होता है। अर्जुन ने युद्ध में द्रुपद को पराजित करने के पश्चात् अहिच्छत्र और कांपिल्य नगरों को द्रोण को दे दिया था। दोनो नगरों को स्वीकार कर विजेताओं में श्रेष्ठ द्रोण ने काम्पिल्य को पुनः द्रुपद को वापस लौटा दिया था।

विविध तीर्थकल्प के अनुसार इसका प्राचीन नाम संख्यावती था। यह कुरुजांगल देश की राजधानी थी। भगवान् पार्श्वनाथ इस नगर मे परिभ्रमण करते थे। पार्श्वनाथ के पूर्व जन्म के शत्रु कमठासुर ने सम्पूर्ण पृथ्वी को आप्लावित करने वाली अबाध वर्षा करायी थी। पार्श्वनाथ आकण्ठ जल मे डूब गये थे। उसकी रक्षा करने के लिए स्थानीय नागराज अपनी पत्नियों के साथ वहां आ गये। उनके सिर पर अपना सहस्र फण फैलाया और उनके शरीर को चारो ओर कुण्डली मारकर लपेट लिया। इसीलिए इस नगर का नाम अहिच्छत्र पड़ा[1]।

अहिच्छत्रा प्राचीन भारत की एक प्रमुख नगरी थी। इसकी पहिचान उन खंडहरो से हुई है जो कि सिरौली परगना तथा आंवला तहसील के ग्राम रामनगर से बाहर है। उत्तर पंचाल का राज्य साहित्य मे अहिच्छत्र विजय के नाम से निर्दिष्ट किया जाता रहा। कुछ शताब्दियो पूर्व मुसलमानों के प्रादुर्भाव से वह क्षेत्र जो गगा के उत्तर तथा अवध के पश्चिम में था कठेर नाम से कहलाया। यह नाम अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक चलता रहा जब तक कि इसका पुराना नाम रुहेलखंड नही हो गया। प्राचीनकाल मे यहां वे लोग रहते थे तो जिनके वंशज आज आदिवासियों के रूप मे रहते हैं। ये जातियां हैं—भील, बिहार, भुइहार, भार, अहार तथा अहीर। स्थानीय परम्परायें अहिच्छत्र को अनार्य नागों से जोड़ती हैं। बलाई खेडा तथा परसुवा कोट का सम्बन्ध असुर राजा बलि से था[2]। अहिच्छत्रा के पास एक ग्राम 'सोनसूबा' है जो स्याणुश्रुवा यक्ष की नगरी थी। इस यक्ष ने राजकन्या शिखण्डिनी को पुंस्त्व प्रदान किया था। यहां से कुछ पूर्व 'पलावन' गांव है यह प्रसिद्ध 'उत्पलावन' था यहां विश्वामित्र कौशिक ने शक्र के साथ यज्ञ किया था[1]।

वैदिक साहित्य मे अहिच्छत्र का प्राचीन नाम परिचक्रा मिलता है सम्भवता उस समय इस नगर का आकार चक्राकार या गोल रहा हो ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे परिचक्रा के स्थान पर इस नगर का नाम अहिच्छत्रा प्रसिद्ध हो गया जिस जनपद या राज्य की यह राजधानी थी, उसके प्राचीन नाम पचाल और अहिच्छत्रा दोनो मिलते हैं। अहिच्छत्रा नगर के ध्वसावशेष उत्तर प्रदेश के बरेली में रामनगर गांव के समीप टीलो के रूप में बिखरे पड़े है वहां तक पहुंचने के लिए बरेली से आंवला नामक रेलवे स्टेशन जाना होता है। आंवला से कच्ची सड़क के रास्ते लगभग १० मील उत्तर अहिच्छत्रा है। इस पुरानी नगरी मे ढूह कई मील के विस्तार मे फैले हैं। रामनगर से लगभग डेढ़ मील आगे

अहिच्छत्रा के पुराने किले के अवशेष हैं जो आजकल आदिकोट के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र के विषय मे जनश्रुति है कि उसे आदि नाम राजा ने बनवाया था। कहा जाता है कि यह राजा अहीर था। एक दिन वह किले की भूमि पर सोया हुआ था और उसके उपर एक नाग ने छाया कर दी थी। पांडवों के गुरु द्रोणाचार्य ने उसे इस प्रकार की अवस्था मे देखकर भविष्यवाणी की कि वह किसी दिन उस प्रदेश का राजा बनेगा। कहते हैं कि वह भविष्यवाणी सच निकली, टालमी ने इस स्थान को आदि राजा कहा है। इसका अर्थ यह है कि आदि सम्बन्धी कथा ई० पूर्व के प्रारम्भ जितनी पुरानी हैं। इस कोट के वर्तमान घेरे की लम्बाई करीब ३ मील है। कोट के चारो तरफ एक चौड़ी खाई (परिखा) थी, जिसमें पानी भरा रहता था। यह खाई अब भी दिखाई पड़ती है। कोट के अतिरिक्त अनेक पुराने टीले अब भी रामनगर के आस-पास फैले हुए है। ये टीले प्राचीन स्तूपों, मन्दिरो तथा अन्य इमारतो के सूचक हैं।

परवर्ती साहित्य तथा अभिलेखो में अहिच्छत्रा के कई नाम मिलते हैं। महाभारत मे छत्रवती और अहिक्षेत्र, यह नाम मिलते है। हरिवंश पुराण तथा पाणिनी की अष्टाध्यायी मे 'अहिक्षेत्र' अहिच्छत्र आदि रूप पाये जाते हैं। रामनगर तथा उसके आस-पास खुदाई से प्राप्त कई अभिलेखों मे अधिच्छत्र नाम आया है और इसी रूप मे यह शब्द इलाहाबाद जिले के पभोसा नामक स्थान की गुफा में भी खुदा है। पभोसा का पहला लेख इस प्रकार है—

अधिछत्र राजो शोनकायन पुत्रस्य बंगापालस्य। यह लेख शुंग कालीन (ई० पू० २री शती) का है। अहिच्छत्रा की खुदाई में गुप्तकालीन मिट्टी की एक सुन्दर मुहर निकली थी जिसमें श्री अहिच्छत्रा भुक्तो कुमारमात्याधिकरणस्य (अहिच्छत्रा संभाग के कुमारामात्य के कार्यालय की मोहर) लेख लिखा है। १६५१ के अन्त मे प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी को रामनगर से एक अभिलिखित यक्ष प्रतिमा प्राप्त हुई। इस पर दूसरी शती का लेख खुदा है, जिसमें अहिच्छत्रा नाम ही मिलता है। इन दोनों पिछले अभिलेखों से स्पष्ट है कि नगर का शुद्ध नाम अहिच्छत्रा था। यह यक्ष प्रतिमा राज्य संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित है[4]।

कनिंघम अहिच्छत्र नाम ही ठीक मानते हैं क्योंकि सर्प द्वारा फणो से किसी के सिर की रक्षा किये जाने की मान्यता जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण अनुश्रुतियों से स्पष्ट है। ऐतिहासिक काल में अहिच्छत्रा नाम अधिक प्रचलित हो गया[5]। अहिच्छत्र जिस जनपद की राजधानी थी; उसका नाम महाभारत मे एक स्थान पर अहिच्छत्र विषय भी मिलता है—

> अहिच्छत्रं च विषयं द्रोण: समाभिपद्यत।
> एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदा युता॥
>
> (आदिपर्व १३८/७६)

विदेशी यात्रियों की दृष्टि में अहिच्छत्रा

अहिच्छत्रा के गुण गौरव की गाथा सुनकर अनेक विदेशी यात्रियों ने इसका परिभ्रमण किया तथा अनेकों ने इसके विषय में अपने यात्रा संस्मरण लिखे। युवान्-च्याङ् ने यहां लोगो को शैक्षिक प्रवृत्ति का तथा ईमानदार पाया। उसके अनुसार बौद्धों की हीनयान शाखा के एक हजार से अधिक सम्मतीय भिक्षु अहिच्छत्रा में रहते थे। उनके दस से अधिक बिहार थे। देव मन्दिरों की संख्या ६ थी तथा पाशुपत शैव संख्या मे तीन सौ से अधिक थे[6]। युवानच्यांङ् के अनुसार इस देश की परिधि ३०० ली थी तथा इसकी राजधानी की परिधि १७ या १६ ली थी[7]।

ह्वेनयांग (६३५ ई०) ने इसका नाम अहिच्छत्र (अहि चिता लो) लिखा है। ह्वेनसांग के कथनानुसार यहां एक नागहृद था, जिसके समीप बुद्ध ने नाग राजा को सात दिन तक उपदेश दिया था। इस स्थान पर अशोक ने एक स्तूप बनवा कर चिह्नित किया था। इस समय जो एक स्तूप अवशिष्ट है, उसे छत्र कहा जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि यह उस पुराकथा से सम्बन्धित है, जिसमें कहा गया है कि बुद्ध के धर्म मे दीक्षित होने के बाद वहां के नाग राजा ने बुद्ध के ऊपर फण फैलाया। इसी प्रकार की कहानी बोध गया के विषय में कही जाती है, जहां नागराज मुचलिन्द ने फण फलाकर बुद्ध के ऊपर पड़ती हुई वर्षा के पानी की बौछारों को दूर किया था। मार

ने इन्हें बुद्ध के ऊपर छोड़ा था। इस प्रकार अहिच्छत्रा से उक्त कहानी का सम्बन्ध सारपूर्ण नहीं ठहरा है। ह्वेनसांग के अनुसार अहिच्छत्र जिस देश में था, उस देश का घेरा ३००० ली (लगभग ६६० किलोमीटर) से अधिक था। अहिच्छत्र नगरी का घेरा १७ या १८ ली अर्थात् ३ मील था तथा प्राकृतिक अवरोधों से इसकी रक्षा की गई थी। यहां १२ मठ थे, जहां १००० बौद्ध भिक्षु रहते थे। ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी ९ मन्दिर थे।

यहां ईश्वरदेव या शिव के ३०० उपासक थे। ये अपने अंग पर राख लगाये रहते थे। नागह्रद् के समीपवर्ती स्तूप के निकट चार छोटे बौद्ध स्तूप थे। ये चार पूर्ववर्ती बुद्धों के ठहरने अथवा भ्रमण करने के स्थान पर बने थे। प्राचीन अहिच्छत्रा का आकार तथा उसकी विशिष्ट स्थिति ह्वेनसांग के वर्णन के अनुसार ठीक-ठीक मिलती है। आजकल जो कोट की दीवारें स्थित हैं व ३.५ मील के घेरे मे है। घेरे को त्रिभुजाकार वर्णित किया जा सकता हैं। पश्चिमी किनारा ५६०० फीट लम्बा है उत्तरी ६४०० फीट तथा दक्षिणी पूर्वी किनारा ७४०० फीट है। किले की अवस्थिति रामगगा तथा गांघन नदी के मध्य है। इन दोनों को पार करना कठिन है, क्योंकि पहली बहुत अधिक रेतीली है तथा दूसरी मे बड़े-बड़े खड्डे हैं। उत्तर और पूर्व में दोनों प्रायः अगम्य प्रिया नाला से विभाजित हैं। प्रिया नाला मे दुर्गम खड हैं, किनारा बहुत ढलावदार है तथा बहुत सारे गहरे छोटे-छोटे तालाब हैं। पहियेदार वाहनों का इस पर चलना असम्भव है इस कारण बरेली को जाने वाला रास्ता, जो कि १८ मील है, बैलगाड़ी से २६ मील से कम नही है। यथार्थ मे लखनोर से उत्तर दक्षिण का रास्ता अगम्य है। लखनोर कटेहरिया राजपूत की प्राचीन राजधानी थी। इस प्रकार ह्वेनसांग का यह वर्णन कि यह स्थान प्राकृतिक अवरोधों से सुरक्षित है, सार्थक है। अहिच्छत्रा आंवला से उत्तर की ओर केवल ७ मील है, किन्तु मार्ग का आधा भाग गांधन नदी के खड्डों के कारण विभाजित है। आवला के उत्तर के जंगलों के ही कारण कटेहरिया राजपूतों ने फीरोज तुगलक के अधीन मुसलमानो को आने से रोक दिया था[८]।

ह्वेनसांग ने इस स्थान के किसी राजा का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि उसे पता था कि यह राजा हर्ष के सीधे नियन्त्रण में एक भुक्ति था। इस समय इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था तथा शैव सम्प्रदाय समृद्धि की ओर था तथा तेजी से उन्नति कर रहा था, जब कि जैनधर्म की अपनी स्थिति सुदृढ़ थी।

टालमी (ण० ई०) ने कनागोरा (कान्यकुब्ज) के साथ सम्भलक (सम्भल), अदिसद्र (अहिच्छत्रा) तथा सागल नगरियों का उल्लेख अपनी कृति कलाडियस के भूगोल मे किया है[९]।

पतंजलि का उल्लेख

प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि (लगभग १५० ई० पू०) ने अहिच्छत्र मे जन्मी स्त्री को अहिच्छत्री तथा कान्यकुब्ज मे जन्मी स्त्री को कान्यकुब्जी कहा है[१०]।

अभिलेखों में अहिच्छत्रा

पभोसा गुहालेख से हमे ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र पर सोनकायनि राज्य करता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में अच्युत नामक एक शक्तिशाली राजा का उल्लेख है, जिसकी मुद्रायें अहिच्छत्र से प्राप्त हुई है। पभोसा गुहा अभिलेखो में यह तथ्य उल्लिखित है कि कौशाम्बी के समीप स्थित पभोसा की दो गुफायें अहिच्छत्र देश पर नरेश आषाढ़सेन ने काश्यपीय अर्हितों को समर्पित की थी। इन गुहाओ मे से एक मे दानी नरेश आषाढ़सेन को राजा बृहस्पति मित्र का मामा बतलाया गया। दूसरे अभिलेख में राजाओं की चार पीढ़ियों का उल्लेख है, जिसका प्रारम्भ शौनकायन से होता है[११]। पभोसा के अन्य शिलालेख में उदाक के समय अहिच्छत्रा का नाम उल्लिखित हुआ है। शिलालेख की लिपि (प्रथम शताब्दी ई० पू० की) ब्राह्मी है। इलाहाबाद स्तम्भ लेख में आर्यावर्त के दूसरे राजाओं के साथ अच्युत का निर्देश है।

अहिच्छत्रा मे ब्राह्मी लिपि में मिश्रित संस्कृत में लिखा गया दो पंक्तियों का अभिलेख प्राप्त हुआ है। जिसका काल दूसरी शताब्दी ई० निर्धारित किया गया है। अहिच्छत्रा के फरागुल विहार में धर्मघोष के दान का उल्लेख यहां प्राप्त हुआ है। यह चतुर्भुज के आकार की

चौकी पर अग्रिम भाग पर उत्कीर्ण है। यह चौकी लाल रेतीली पत्थर से बनी है। तथा उसके निचले भाग पर विचित्र यक्ष की मुद्रा बनाई गई है। चौकी सम्भवत. मठ के स्नान धर में प्रयुक्त की जाती थी। कुछ मायनो मे इसकी उपलब्धि अपूर्व है। यक्ष की मुद्रा से अङ्कित यह सबसे प्राचीन प्रस्तरपट्ट है। यह इस ओर एक नये बौद्ध मठ फरागुल विहार पर प्रकाश डालती है। इस पर सबसे पहले सही नाम अहिच्छत्र अङ्कित है कांतरिखेरा टीले से जैन मन्दिर के खंडहर प्राप्त हुए है। यह मन्दिर कुषाण-काल का है तथा पार्श्वनाथ का है। इसमें पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की मूर्तियाँ भी सम्मिलित है तथा इन पर लेख भी अङ्कित हैं, जो ९६ से १५२ ई० के है। उत्तर की ओर एक छोटा जैन मन्दिर प्राप्त हुआ है तथा पूर्व की ओर इंटो से निर्मित एक स्तूप भी प्राप्त हुआ है। मैसूर के पश्चिमी गंग क्षेत्र मे एक राज्य स्थापित हुआ था। जिसका काल लगभग दूसरी शताब्दी ई० का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ है। इसकी स्थापना मे एक जैन गुरु ने उत्तर के दो राजकुमारो द्वारा सहयोग दिया था। ये राजकुमार अहिच्छत्रा के राजा के थे, जिन्हें उनके पिता ने सुरक्षा हेतु दक्षिण भेजा था। जबकि उनके राज्य पर एक भयंकर शत्रु ने आक्रमण किया था। कुषाण काल के कुछ ब्राह्मण मन्दिर भी प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार उस काल में यह नगर तीनों धर्मों का केन्द्र था।

इलाहाबाद के प्रस्तर स्तम्भ शिला लेख के अनुसार समुद्रगुप्त राजा ने अपना पहला युद्ध कार्य आर्यावर्त मे प्रारम्भ किया और इनकी शुरुआत पडोस के अच्युत तथा नागसेन के या अच्युतनन्दि की पहचान अहिच्छत्रा के एक तांबे के सिक्के में अंकित अच्यु से की गई है। इस सिक्के के दूसरे ओर चक्र अंकित है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस राजा ने ३३५ ई० से ३५० ई० के मध्य शासन किया था तथा सम्भवत: मथुरा पर राज्य करने वाले नागों के पूर्वज की एक शाखा के ही वंशज थे, जिसके बाद यह भाग गुप्त राज्य का एक भाग बन गया तथा ६५० ई० तक इसकी यही स्थिति रही। अहिच्छत्रा, (अहिच्छत्रा भुक्ति) एक प्रान्त के बराबर का प्रशासकीय भाग का मुख्यालय बनाया गया था और सम्भवत: यह टकसाली नगर था। यहाँ पर एक मिट्टी की मोहर (सील) मिली है, जिस पर यह अभिलेख है कि यह अहिच्छत्रा भुक्ति के कुमारामात्य के कार्यालय निर्मित हुई थी। उपाधि यह सूचित करती है कि यह बड़ा अधिकारी भुक्ति का राज्यपाल था तथा राजकुमार के पद के बराबर उसका पद था इसी काल का एक अन्य शिलालेख बिल-बारी गाँव से प्राप्त हुआ है। अहिच्छत्रा किले से यह गाँव साढ़े चार मील दक्षिण में है। इसके अतिरिक्त एक अन्य गुप्तकाल का शिलालेख पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (जो कि कोटरी खेड़ा की ओर है) के मध्य से प्राप्त हुआ है।

देवल से एक उल्लेखनीय प्रस्तर स्तम्भ प्राप्त हुआ है। देवल का आधुनिक नाम देवरिया है, जो कि पहले बरेली जिले मे था, आजकल पीलीभीत मे है। यह कुटिल लिपि मे अच्छी संस्कृत में लिखा हुआ है तथा संवत् १०४८ (९९२ ई०) का है इसमें उस समय वहां राज्य कर रहे शक्तिशाली राज्यवंश का उल्लेख है। उसमें लल्ला नामक एक राजा का उल्लेख है, जिसने कि यह अभिलेख मन्दिर पर खुदवाया, इसकी रानी ने उस मन्दिर को बनवाया था। वह छिन्द वंश के वीरवर्मा की चौथी पीढी का था। महर्षि च्यवन इसी वंश के थे। छिन्दु से तात्पर्य कुछ लोग चन्द्रवंश लगाते हैं। कुछ इसे चेरम से जोड़ते है। कुछ इसका सम्बन्ध चन्देलो से कहते हैं तथा दूसरे लोग इसका सम्बन्ध बच्छल से जोडते हैं। यह अभि-लेख उस समय की समुन्नत संस्कृति और सभ्यता का प्रमाण है। यह संस्कृति स्थानीय हो सकती है। इसके केन्द्र देवरिया तथा अहिच्छत्रा रहे होगे, किन्तु इसका भार अपेक्षाकृत कम परिष्कृत लोगों पर आ गया। छिन्दु राज-कुमार स्वयं कन्नोज के गुर्जर प्रतीहारो के अधीन रहे होंगे।

यद्यपि यहां शासन की कोई पीठ नहीं थी, फिर भी अहिच्छत्रा एक सांस्कृतिक नगरी के रूप में फल फूल रही थी, जैसा कि एक दीवाल पर बने हुए दो सुन्दर सिरों की नक्काशी से प्रमाणित है, एक खण्डित शिलालेख भी है, जो संवत् १०६० (१००४ ई० पू०) का है, यद्यपि यह पूरी तरह से अभी स्पष्ट नही हुआ है। यह अहिच्छत्रा की बड़ी नगरी के रूप मे अन्तिम ज्ञात तिथि है तथा इस

क्षेत्र की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है बाद मे यह नष्ट भ्रष्ट हो गई। नष्ट होने का कारण अज्ञात है।

पंचाल जनपद एवं अहिच्छत्रा से प्राप्त सिक्के तथा उनसे प्राप्त जानकारी :—

अहिच्छत्रा से अच्युत नाम के राजा के सिक्के प्राप्त हुए हैं। अहिच्छत्रा से तृतीय शताब्दी ई० के भी कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। शीलदित्य प्रतापशीला राजा के सिक्के भी भिटौरा (फैजाबाद), अयोध्या के पास अहिच्छत्रा प्राप्त हुए हैं"। अहिच्छत्रा से एक तांबे का सिक्का प्राप्त हुआ है, जिसे कनिंघम ने "क्वाइन्स आफ मेडिकल इंडिया" में प्रकाशित कराया था। इसका वजन ५ ग्रेन तथा आकार ६ इंच है। इस पर पादपीठ पर पूर्ण कुम्भ दृष्टिगोचर होता है। सिक्के के दूसरी ओर (श्री) महार (ज) (ह)रिगुप्तस्य पढ़ा गया है। फलन, जिसने इसे कैटलाग आफ द क्वाइन्स आफ डाइनेस्टीज के अन्तर्गत प्रकाशित किया था, के अनुसार इसकी लिखावट अस्पस्ट है, केवल 'गुप्तस्य' पाठ स्पष्ट है एलन ने सिक्के को जारी करने वाले राजा के नाम को बतलाने मे अपनी असमर्थता व्यक्त की है, किन्तु दूसरी ओर कहा है कि लेख को पुरालिपि के अनुसार इसकी लिपि पाचवी शताब्दी ई० की जा सकती है। तांबे के सिक्के की अभी खोज हुई है, जिस पर स्पष्ट रूप से हरिगुप्त लिखा है तथा इसकी आकृति चन्द्रगुप्त द्वितीय के तांबे के सिक्के से मिलती-जुलती है। एक अन्य शिलालेख की प्राप्ति हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा हरिराज, जो कि गुप्त राजवंश का था, ने उस क्षेत्र का शासन किया था, जहाँ वर्तमान बादा जिला है। उसका काल पाचवी शताब्दी का है। इस बात की प्रबल सम्भावना है कि अहिच्छत्रा के उक्त सिक्के का प्रचलन उसी के द्वारा हुआ था। इलाहाबाद म्युनिसिपल म्युजियम में भी एक तांबे का सिक्का है, जिस पर "महराजा हरिगुप्तस्य" अंकित है। इस सिक्के का आकार .८५ इंच तथा ४६ ग्रेन है। इसमें सन्देह की कोई अवकाश नही रह जाता है कि उसी महाराजा ने अहिच्छत्रा का सिक्का भी प्रचलित किया था। इस राजा ने महाराजा की उपाधि धारण की थी"।

अहिच्छत्रा से जो सिक्के प्राप्त हुए है, सामान्यतया उनका काल २०० ई० पू० से ३५० ई० तक का निर्धारित किया गया है। इन सिक्को से यह प्रकट है कि कम से कम २७ राजाओ ने इस क्षेत्र पर स्वतत्र रूप से राज्य किया। इन सबकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। ये सब शासक एक ही राजवंश के नहीं अपितु अनेक राजवंशों के प्रतीत होते हैं, जो कि एक दूसरे के बाद बिना किसी व्यवधान के समद्ध होते रहे। इन राजवंशों की कालगणना तथा प्रत्येक राजवंश के राजाओं की सख्या निश्चित नही है। ये स्थानीय शासक या राजवंश पंचाल या पंचाल राजा के नाम से विश्रुत हुए। उन्होने अपने नाम के सिक्के चलाये और कभी-कभी राजकीय उपाधियां धारण कीं। वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मगध के शुंगों (१८५–७२ ई० पू०) सम्बन्धित थे या नही, इस विषय मे भिन्न-मत हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार वे निश्चित रूप से शुंगों ही के अधीन थे या शुंगो की ही शाखा के थे तथा शुंगों के राज्यपाल के रूप मे कुछ दशक तक कार्य करते रहे। अन्य लोगों के अनुसार इस अनुमान का कोई आधार नही है। उनके अनुसार शुगों एवं अहिच्छत्रा के पचाल राजाओं का कोई सम्बन्ध नही था। वे अपने शासन कार्य में स्वतंत्र थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के पचाल राजाओं ने मौर्यों के अधीन रहकर शासन प्रारम्भ किया तथा बाद मे मौर्यों की शक्ति क्षीण होने पर वे शक्तिशाली बन गये सम्भवत: इन्होने मौर्यों की शक्ति क्षीण होने मे स्वय योग दिया। किन्तु यह अपने प्रतिद्वन्दियो से भी कमजोर होते रहे। अत: जिनकी नई राजकीय शक्ति का उदय हुआ था, ऐसे शुंगों के अधीन हो गये। यह अधीनता बहुत ही कम रही क्योंकि ग्रीक राजा दिमित्रयस तथा उनके सेनापति मिनाण्डर की शक्ति के सामने शुंग राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई।

युगपुराण से ज्ञात होता है कि दुर्वीर यूनानियों ने साकेत, पचाल तथा मथुरा पर आक्रमण कर लूटपूट की और वे पाटलीपुत्र तक पहुंच गये। शासन पूर्णतया छिन्न भिन्न हो गया, किन्तु सौभाग्य से आक्रमणकारी अपनी सैनिक सफलता का फल प्राप्त करने मे असमर्थ रहे, क्योंकि वे शीघ्र ही अपने देश को वापिस चले गये।

सम्भवतः इसी यूनानी आक्रमण का वर्णन पतजलि ने किया है। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के मुख्य पुरोहित थे, जिन्होंने अपनी कृति मे उत्तर पंचाल तथा उसकी राजधानी अहिच्छत्रा की सूचना दी है। वे उत्तर पचाल तथा पूर्व पंचाल मे भेद करते हैं तथा पंचाल माणवकः शब्द का पयोग ऐसे छात्रों के लिए करते हैं जो कि पचाल से आये थे। मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण भी इस समय अहिच्छत्रा की प्रधानता को प्रमाणित करते है। यह काल लगभग १८७ तथा १६२ ई० पू० का था।

इस क्षेत्र के पचाल राजाओ का अनुमानित क्रम उनके सिक्को के आधार पर निश्चित करने का प्रयत्न किया जाय तो यह प्रकट होता है कि उनमे रुद्रगुप्त, जयगुप्त तथा दामगुप्त सबसे पहले के थे। इस परम्परा के उत्तराधिकारी सम्भवतः विश्वपाल, यज्ञपाल तथा बगपाल हुए। पभोसा शिलालेख के अनुसार बगपाल शोनकायन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। शोनकायन यज्ञपाल और विश्वपाल का उत्तराधिकारी हो सकता है। बगपाल का पुत्र तथा उत्तराधिकारी भागवत था, जिसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र आषाडसेन हुआ। यह पभोसा (जिला इलाहाबाद) गुफा का दान करने वाला था। आषाढ़सेन की बहन गोपाली का पुत्र बहस्ति मित्र था, जो सम्भवतः उस समय कौशाम्बी का शासक था जिसका काल लगभग १२३ ई० पू० निश्चित किया गया है। पचाल के सिंहासन पर आषाढ़सेन का उत्तराधिकारी सभवतः वसुसेन था।

१०० ई० पू० के लगभग इस राजवश के उत्तराधिकारी दूसरे १४ राजा हुए। ये सभी अपने नाम के आगे मित्र शब्द लगाते थे तथा प्रायः पचाल के मित्र राजा के नाम से जाने जाते थे। वे है—अग्निमित्र, आयुमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, फाल्गुनमित्र, प्रजापतिमित्र, सूर्यमित्र, वरुणमित्र, विष्णुमित्र तथा बृहस्पतिमित्र। इन राजाओं के सिक्कों का आकार गोल है और इनकी शैली और प्रकार ज्यादातर एक जैसी ही है। इन सब पर तीन पचाल प्रतीक बने हुए हैं तथा इसके मध्य राजा का नाम ब्राह्मी लिपि मे लिखा हुआ है। दूसरी ओर एक देव या एक देवी सिंहासन पर बैठी हुई है तथा एक वृक्ष भी अकित है। अग्निमित्र तथा सूर्यमित्र के सिक्के के दूसरी ओर क्रमशः अग्नि तथा सूर्य के प्रतीक अंकित हैं। इन देवताओ से उनकी स्वय की पहचान होती है। सिक्कों की इस अपूर्व शृखला से उस मूर्ति विज्ञान के अध्ययन में सहायता मिलती है। जिसकी कल्पना उनमे की गई है। सिक्को के आधार पर इन राजाओं के क्रम तथा समय का पता लगाना संभव नही हुआ है तथा सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि ये लगभग १०० ई. पू. से २०० ई तक समुन्नत रहे होंगे। ऐसा नही कहा जा सकता कि उनम से एक या अधिक आषाढ़सेन या उसकी परम्परा से निश्चित सबंधित नहो रहे क्योंकि शुंगों की सूची में अग्निमित्र का नाम तथा कण्वों की सूची मे भूमिमित्र का नाम है। यह अनुमान किया जाता है कि पचाल के ये मित्र राजा मगध राजवश से सबधित रहे होगे, किन्तु इस प्रकार की अनुरूपता की मुद्रा विशेषज्ञ तथा दूसरे विद्वान् नही मानते है। अहिच्छत्रा के स्थानीय शासकों का शासन अधिकतया उत्तरी पचाल की सीमा तक सुनिश्चित रहा। इस प्रकार के कम सिक्के ही अन्यत्र प्राप्त हुए हैं। अकेले भूमिमित्र के सिक्के होशियारपुर से प्राप्त हुए हैं। अग्निमित्र तथा इन्द्रमित्र के सिक्के पटल मे प्राप्त हुए हैं। बृहस्पतिमित्र राजा का उल्लेख गया के शिलालेख मे हुआ। इन अपवादो से यह निर्देश किया जा सकता है कि इन तीन राजाओ ने लम्बे समय तक कार्य किया तथा अधिक विस्तृत सीमा मे राज्य किया। (क्रमशः)

सन्दर्भ

१. विमलचरण लाहा—प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल पृ. १०७ १०६।
२. गजेटियर आफ इडिया (उ. प्र.) बरेली पृ. २१-२२।
३. भगवद्दत्त—भारतवर्ष का वृहद् इतिहास पृ. १८१।
४. डा. कृष्णदत्त बाजपेयी : काम्पिल्यकल्प पृ. ४।
५. वही पृ. ५।
६. लालमणि जोशी : स्टडीज इन बुद्धिस्ट कल्चर आफ इडिया पृ. ३१।
७. बी. एन शर्मा : हर्ष एंड हिज टाइम्स पृ. ४१५।
८. द एन्शिएट ज्याग्रफी आफ इडिया पृ. ३०३-३०५।
९. डा. एल. डो. बासेट : हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ. १६-१७
१०. वह, पृ. १६। ११. हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ. ३५।
१३. डी. सी. सरकार : स्टडीज इन इडियन क्वाइन्स पृ. २२१-२२६।

श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व

□ जस्टिस एम० एल० जैन

कुछ वर्षों पहले विश्व प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ राजस्थान मे आबू के और गुजरात मे शत्रुंजय (पालीताना) के दर्शन करने का पावन अवसर मिला। वहा पाया कि दोनो तीर्थस्थलो पर एक-एक दिगम्बर मन्दिर भी हैं, हां, आबू के देवस्थान का दिगम्बर मन्दिर छोटा है परन्तु पालीताना का दिगम्बर देवालय काफी बडा है। निश्चय ही यह श्वेताम्बर परम्परा की सहिष्णुता का परिचायक तो है ही किन्तु इसका आगम सम्मत कारण भी होना चाहिए; हो न हो श्वेताम्बर परम्परा मे भी ऐसे लोग थे जो दिगम्बर परम्परा को भी अपना ही मानते थे, ऐसा विचार भी पैदा हुआ।

श्वेताम्बर मुनि जिन विजय जी ने बताया था कि मथुरा के कंकाली टीले मे जो प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं वे नग्न हैं और उन पर जो लेख अंकित हैं वे श्वेताम्बर ग्रन्थ कल्पसूत्र मे दी गई स्थिरावली के अनुसार हैं।[1] कुछ विद्वानो की खोज यह है कि प्रारम्भ में तो तीर्थंकर मूर्तियां सर्वत्र दिगम्बर ही होती थी किन्तु जब भेदभाव उग्र होने लगा तो एक वर्ग ने नग्न मूर्तियो के पादमूल पर वस्त्र का चिह्न बनाना प्रारम्भ कर गिरनार पर्वत पर अपनी अलग परम्परा की नीव डाली।[2] गिरनार मे डाली गई यह परम्परा आगे बढ़ी और ऐसा लगता है कि वैष्णव भक्ति धारा के प्रभाव से मूर्तियो को वस्त्रालंकारो से विभूषित किया जाने लगा। दोनो ही परम्पराओ के अनुसार भूषण मण्डित स्वरूप सम्पूर्ण सन्यास के पूर्व तीर्थंकरों के युवराज पद या सम्राट पद की शोभा को दर्शित करता है। लेकिन जो विचार भेद की दरार पडी उसने सीमा छोड़ दी और एक दूसरे के बारे मे विचित्र-विचित्र कहानिया गढ़कर परस्पर निरादर और उपेक्षा ने घर कर लिया और आगम का भी अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार वर्गीकरण कर लिया, ऐसा क्यों हुआ यह जानने के लिए मुझे श्वेताम्बर मुख्य आगम सूत्रो के अध्ययन की प्रेरणा हुई। मागधी प्राकृत भाषा का ज्ञान न होने के कारण कठिनाई आई किन्तु फिर भी इधर-उधर जो देखा तो यह लगा कि श्वेताबर आगम तो दिगम्बरत्व को मान्य करते हैं तथा श्वेताम्बर परम्परा मे विशाल जैन साहित्य विद्यमान है और हर दिगम्बर विद्वान को इनका गहन अध्ययन करना चाहिए। यह सम्भव है कि हम उनकी कुछ बातों से कतई सहमत न हों, कई बातें अब समयानुकूल भी नही रही परन्तु इस अध्ययन से जैन धर्म और आचरण की परम्परा के विकास के इतिहास का परिचय अवश्य ही मिलता है।

जहा तक न्याय, स्याद्वाद, आत्मा, कर्म आदि सिद्धांतों का सवाल है वहा तक दोनो ही परम्पराओ के ग्रन्थों मे पूर्ण समानता है और शास्त्रकारो मे आपस मे खूब आदान-प्रदान हुआ है। क्या ही अच्छा हो यह सिलसिला आगे बढ़े जिससे रूढ़िवादी दीवारें गिराई जा सकें और जैन समाज की सच्ची परम्परा विकसित हो। तो आइए, इस दृष्टि से श्वेताम्बर मुख्य आगमो का कुछ सिंहावलोकन कर लें।

(१) भगवती सूत्र मे एक प्रसंग है[3]—'स्थविर और आर्य कालस्यवेषि पुत्र अनगार'। इसमें लिखा है—

तेणं कालेण, तेण समएणं पासवच्चिज्जे कालावेसिए पुत्ते णाम अणगारे जेणेव थेरा भगवतो तेणेव उवागच्छति ××× तएणं से कालासवेसिय पुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामन्न परियाग पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए कीरई नग्नभावे मुंडभावे, अण्हाणय, अदंतधुवणय, अच्छत्तयं, अणोवाहणय, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केस लोओ, बभचेर वासो, परघरप्पवेसो, लद्धावलद्धो, उच्चावया, गामकटगा, बावीसं परिसहेवसग्गा अहिया-

सिज्झंति, तं अट्ठं आराहेइ, आराहित्ता, चरमेहि उस्सास—नीसासेहि सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुडे, सव्वदुखप्पहीणे।

उस समय पार्श्वनाथ के अनुयायी कालस्यवेषी पुत्र नाम का अनगार स्थविरों के पास आया। (उनके द्वारा सामायिक, आत्मा, व्युत्सर्ग, क्रोध, मान, माया, लोभ पर चर्चा करने के पश्चात् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से महावीर के पंचमहाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म को प्राप्त करके विहार करने ल ा) × × × बहुत वर्षों तक श्रामण्य पर्याय की पालना करता हुआ कालास्यवेसी पुत्र नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, अदन्तधावन, अछत्र. भूमि शय्या, फलक शय्या, काष्ठ शय्या, केशलोंच, ब्रह्मचर्यवास, परगृहप्रवेश, लब्ध्यापलब्धि, इन्द्रियों के लिए कण्टक के समान २२ परीषहो को सहने लगा और चरम उच्छ्वास निःश्वास को आराधना करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत्त, सर्वदुखहीन हो गया।

इस वर्णन से यह जाहिर होता है कि उस समय जैन साधु संघ दो दलों मे विभाजित थे। एक थे पार्श्वनाथ के अनुयायी "पार्श्वपत्य" जो सामायिक नहीं करते थे और आत्मा को ही सामायिक मानते थे और प्रतिक्रमण भी नही करते थे और ब्रह्मचर्य नाम का अलग से महाव्रत नही मानते थे। दूसरे थे महावीर के अनुयायी बहुश्रुत "स्थविर" जो सामायिक प्रतिक्रमण नियमपूर्वक करते थे और ब्रह्मचर्य को अलग से महाव्रत मानते थे। जब कालस्यवेषिक पुत्र से स्थविरों का वार्तालाप और विचारो का आदान-प्रदान हुआ तो वह भी महावीर का अनुयायी होकर नग्न विचरण करने लगा। इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि महावीर के स्थविर शिष्य दिगम्बर ही होते थे और नग्नता की श्रेष्ठता ही इस कथानक से दर्शित है।

इसी की पुष्टि कात्यायन सगोत्र स्कदक परिव्राजक के प्रसग से होती है[४]। जिसने श्रमण महावीर के पास जाकर उनके वचनों से प्रभावित होकर अपने त्रिदण्ड और कुण्डिका का ही नही किन्तु एकान्त मे जाकर अपने गेरुआ वस्त्र को छोड़ दिया। उसके पश्चात् श्वेत वस्त्र धारण करने का कोई सकेत नही है।

(२) आचारांग सूत्र[५] में साधुओं के वस्त्रों के विषय में चर्चा इस प्रकार है—

जे भिक्खू तिवत्थेहि परिवुसिते पाय चउत्थेहिं तस्सणं णो एवं भवति चउत्थं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसाणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा णो धोविज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइ वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलए। एय खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।।१।। अहपुण एव जाणेज्जा उवतिक्कते खलु हेमते गिम्हे पडिवन्ने अधा परिजुन्नाइ, वत्थाइ परिट्ठविज्जा, अदुवा सतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाघवीयं आगममाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवति। जमेयं भगवया पवेदितं तमेव अभि समेच्चा सव्दतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।।२।। जस्सण भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्व समण्णागय पन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आवट्ठे तवसिणो हु त सेय ज सेगे विहमादिए, तत्थवि तस्स काल परियाए, सेवि तत्थ विअति कारए इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुह, खम, णिस्सेयसं, आणुगामियं तिवेमि।।३।।

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पाय तइएहिं तस्सण णो एवं भवति वतिय वत्थ जाइस्सामि। से अहेसणिज्जाइं वत्थाइ जाएज्जा जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गिय।।१।। अहपुण एवं जाणेज्जा उवक्कते खलु हेमते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुन्नाइ वत्थाइ परिट्ठवेज्जा, अदुवा सतरुत्तरे अदुवा ओमचेलए, अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघविय आगममाणे तवे से अभिसम्मणागए भवति। जहेय भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए सम्मत्तमेव अभिजाणिया।।२।।

जे भिक्खू एगेग वत्थेण परिवुसिते पायविितिएण, तस्स णो एवं भवइ वितियं वत्थं जाइस्सामि से अहेसाणिज्जं वत्थ जाएज्जा, अहापरिग्गहिय वा वत्थ धारेज्जा, जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्न वत्थं परिट्ठवेज्जा, अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघविय आगममाणे, जाव सम्मतमेव समभि जाणिया, जस्सण, भिक्खुस्स एगं भवति एगो अहमसि नो मे अत्थि कोइ नया अहम वि कस्स एगं

से एगामिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा लाघविय आगम-माणं तवे से अभिसमन्नागए भवइ जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभि-जाणिया ॥१॥

इसके अनुसार जिस साधु को एक पात्र और तीन वस्त्र रखना हो उनको ऐसा विचार न हो कि मुझे चौथा वस्त्र चाहिएगा। यदि तीन वस्त्र पूरे न होवें तो निर्दोष वस्त्र की याचना जहां मिले वहां करना। जैसे निर्दोष वस्त्र मिले वैसे ही पहिनना परन्तु उन वस्त्र को धोना नहीं, रंगना नहीं, धोए हुए, रंगे हुए वस्त्र को धारण करना नही ग्रामानुग्राम विचरते-विचरते वस्त्र को छिपाना नहीं— यह वस्त्रधारी मुनि का आचार है।

जब ऐसे साधु का विचार हो कि सर्द ऋतु बीत गई है और ग्रीष्म ऋतु आ गई है अथवा क्षेत्र स्वभाव से उष्ण-काल मे भी सर्दी का आना संभव हो तो तीनों रखे या तीन में से एक छोड़े दो रखे, या दो छोड़े एक रखे या बिल्कुल न रखे। ऐसा करने से निर्ममत्व धर्म की प्राप्ति होती है इससे लाघवपन आता है इसको भी भगवान ने तप कहा है यह सब भगवान की आज्ञा वस्त्र रखने और वस्त्र न रखने में समभाव रखना।।२।। जिस साधु को ऐसा विचार हो कि मुझको शीत आदि परिषह आ पड़े हैं इनको मैं सहन करने में असमर्थ हूं तब उस स्थान पर साधु को वेहानसादिक मरण करना उचित है वहा ही उसकी काल पर्याय है [जैसे भक्त परिज्ञादिक काल पर्याय वाला मरण हितकर्ता है वैसे ही यह वेहानसादिक मरण हितकर्ता है।] इस तरह मरण करने वाला मुक्ति को जाता है इस तरह वेहानसादि मरण मोह रहित पुरुषो का कृत्य है, हितकर्ता है, सुखकर्ता है, योग्य है, कर्मक्षय करने वाला है और उसका फल भी भवान्तर मे साथ रहता है ऐसा मैं कहता हूं॥

किसी साधु को एक पात्र और दो वस्त्र रखने का नियम हो तो उसको ऐसा विचार नही होना चाहिए कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करू। यदि इतने वस्त्र नहीं हों तो जैसा मिले वैसा शुद्ध निर्दोष वस्त्र मांग कर धारण करना यही साधु का आचार है। जब साधु को ऐसा लगे कि शीतकाल व्यतीत हुआ है ग्रीष्म ऋतु आ गई है इस-लिए मेरे पास के दो वस्त्रों मे से खराब वस्त्र डाल दू, और अच्छा वस्त्र रखूं या लम्बे को कम करने या एक ही वस्त्र रखू या वस्त्र रहित रहूं ऐसा करने में लाघव धर्म होता है इसे तप कहा गया है इसलिए जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर वस्त्र रहितपने में और वस्त्र सहित-पने मे समभाव रखना।

जिस साधु को एक पात्र के साथ एक ही वस्त्र रखने की प्रतिज्ञा हो उनको ऐसी चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि दूसरा वस्त्र रखूं। यदि वस्त्र न हो तो शुद्ध वस्त्र की याचना करे जैसा मिले वैसा पहिने। उष्ण ऋतु आने पर उसको परिठवे या तो एक वस्त्र से ही रहे या वस्त्र रहित रहे तथा विचार करे कि मैं अकेला हू, मेरा कोई नही है ऐसी एकत्व भावना भाता हुआ अपने सदृश सबको जाने उससे लाघव धर्म की प्राप्ति होती है और इसी से तप होता है इसलिए जैसा भगवान ने कहा वैसा ही जानकर समभाव रखना।

(३) आयारो (आचारांग) सूत्र मे लिखा है—अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिइ सुपणिहिए चरे, अपलीयमाणे दढे। सव्वं गेहिं परिण्णाय, एस पणए महामुणी। अइअच्च सव्वतो सगं "ण महं प्रत्थित्ति इति एगोहमसि" जयमाणे एत्थ विरते अणगारे सव्वओ मुंडे रीयते जे अचेले परि-वुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए। से अकुट्ठे व हए व लूसिए वा पलिय पगथे अदुवा पगथे। अत हेहिं सद्द फासेहिं इति संखाए।। एगतरे अण्णयरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी, जे य अहिरीमणा। चिच्चा सव्व विसोत्तिए फासे-फासे समियदंसणे।

एत भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामग धम्म। एस उत्तर वादे, इह माणवाण वियाहिते। एत्थोवरए त झोसमाणे। आयाणिज्ज परि-ण्णाय, परियाएण विगिचइ। इहमेगेसि एगचरिया होति। तत्थियराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धे सणाए सव्वेसणाए। से मेहावी परिव्वए। सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणपाणे कलेसंति। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासेज्जासि।

एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे

णिज्झो सइत्ता जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थ जाइस्सामि, सुत्त जाइस्सामि, सूइ सधिस्सामि सोवीस्सामि, उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि ।

अदुवा तत्थपरक्कमतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसति, तेउफासा फुसति, दसमसगफासा फुसति । एगएरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले ।

लाघवं आगममाणे । तवे से अभिसमण्णागए भवति जहेय भगवता पवेदितं तमेव अभि समेच्चा सव्वतो सव्व-ताए सम-मेव समहिजाणिया ।[5]

जो साधु धर्म को जानता है उस पर आचरण करता है और बाह्य आचरण की भी रक्षा करता है, सासारिकता से दूर दृढ रहता है, सारे लोभ आकांक्षाओं को जानकर छोडता है वह महामुनि हो जाता है, सारे बधन तोड़ देता है, सोचता है कि कुछ भी मेरा नही है—मैं केवल एक मैं हूं इस प्रकार विरत हो जाता है अनगार होकर मुंड होकर विहार करता है, अचेल साधु व्रत करता हुआ देह से संघर्ष करता है, उसे लोग गाली देंगे, प्रहार करेंगे और असत्य दोषारोपण करेंगे—इस सबको पूर्व जन्म का फल समझ कर सुख-दुख मे समभाव रख कर शांति से विचरण करता है, सासारिकता को छोडकर सब कुछ सहन करता हुआ सम्यक् दर्शन को बार-बार धारण करता है ।

अरे वही नग्न है जो सांसारिकता से निवृत्त होकर मेरे द्वारा दर्शित धर्म को धारण करते हैं, यह उच्चतम धर्म मानवों के लिए विहित किया गया है । इस बात से हर्षित होकर कर्मों का नाश करते हुए सब कुछ जानते हुए पाप कर्मों को छोड देगा । हमारे धर्म मे एकलविहारी मुनि भी होते हैं । इसलिए बुद्धिमान लोगों को श्रमण का जीवन बिताना चाहिए, शुद्ध भिक्षा ग्रहण करना चाहिएं सभी प्रकार के परिवारों मे आहार चाहे सुगधित हो या दुर्गंध वाला । दुष्ट प्राणी दूसरे प्राणियो को दुख पहुंचाते हैं यदि यह सब आपके साथ हो तो मेरा आदेश है कि उसे सहन करो ।

ऐसा मुनि जो अचेल है, धर्म को जानता है, आचरण और सयम से रहता है उसको ऐसा विचार नही होता कि मेरे वस्त्र परिजीर्ण हैं, नये के लिए याचना करूंगा, डोरे के लिये याचना करूंगा, सुई के लिये याचना करूंगा, उनको सी लूगा, उनको सुधार लूंगा, पहन लूगा या ओढ़ लूगा ।

इस प्रकार का अचेलक जो तप मे पराक्रम दिखाता है उसे अक्सर घांस चुभेगा, शीत-उष्ण, दंश-मशक परेशान करेंगे, वह अपनी इच्छाओ व कर्मों का दमन करता है वही तप करने के योग्य है ऐसा भगवान ने कहा है यह समझकर सम्यक्त्व को धारण करता है । (क्रमश.)

पाद-टिप्पण

१. जैन हितैषी भाग १३, अंक ६, पृ० २६२ ।
२. (a) धर्मसागर उपाध्याय, प्रवचन परीक्षा ।
   (b) प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास पृ० २४१ ।
३. भगवती सूत्र, सुधर्मा स्वामी प्रणीत अभयदेव सूरि विरचित बिवरण सहित, जिनागम प्रकाशक सभा, मुंबई वि० सं० १८५४ शतक १, उद्देशक ६, पृ० २०६-२०६ तथा २६६-३०० ।
४. उपरोक्त शतक २, उद्देशक १, सूत्र १८, पृ० २३८ ।
५. (a) सुधर्मा स्वामि आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन उद्देश ४, ५, ६ ।
   (b) अंग सुत्ताणि, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०) वि० स० २०३१, आयारो, अष्टम, अध्ययन उद्देश ४, ५, ६, ७ पृ० ६२-६५ । Sacred Books of the East—Vol. 22, Jain Sutras Pt. I मोतीलाल बनारसीदास १९६४ ।
६. (a) उपरोक्त आयारो छठा अध्ययन उद्देश २-३, पृ० ५०-५२ ।
   (b) आचारांग प्रथम श्रुतस्कध भद्रस्वामिकृत निर्युक्ति श्री शीलांकाचार्य कृत वृत्तियुक्त, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति जैनानन्द पुस्तकालय, सूरत सन् १९३५ पाना नं० २१९-२२१ ।

पाण्डुलिपियों की सुरक्षा आवश्यक

☐ डॉ० ऋषभचन्द्र फौजदार

जैन परम्परा में शास्त्रों का विशेष महत्व है। यहां स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। स्वाध्याय के लिये शास्त्र आवश्यक हैं। हमारे पुरखों ने शास्त्र स्वयं लिखे। दूसरों के लिये प्रेरित किया। अपना धन व्यय करके शास्त्र लेखन कराया। प्रचार-प्रसार के लिये शास्त्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे। शास्त्र भण्डार स्थापित किये। अन्य धर्मात्माओं को प्रेरणा दी। उनसे भी शास्त्र-भंडार स्थापित करवाये। उनमें संग्रह के लिये शास्त्रों की व्यवस्था की। दान के भेदों मे शास्त्र दान का विशेष स्थान है। शास्त्रदान मे कौण्डेश का दृष्टांत प्रसिद्ध है।

शास्त्रदान पुण्य का प्रधान कारण माना गया है। इसीलिये एक-एक शास्त्र की अनेक प्रतिलिपियां करायी जाती थीं। श्रावक जन, राजे-महाराजे या श्रेष्ठि जन, यश तथा पुण्य लाभ के लिए शास्त्र लिखवाते थे। उन्हें शास्त्रभंडारों तथा मन्दिरों में सुरक्षित रखवाते थे। इससे उन्हें यश मिलता था। पुण्यार्जन होता था। शास्त्रों की सुरक्षा होती थी। धन का सदुपयोग भी होता था। दक्षिण भारत की एक धर्मात्मा नारी अत्तिमब्बे ने पोन्नकृत शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार कराकर वितरित करायी थीं। उस देवी ने सुवर्ण और रत्ननिर्मित डेढ़ हजार जिनमूर्तियां भी बनवाकर प्रतिष्ठित करायी थीं। उक्त कार्य उसने अपना धन व्यय करके सम्पन्न किये।

पुण्य प्रधान तथा सातिशय महत्व के कारण समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग ने शास्त्र संग्रह किया। उदाहरण स्वरूप साधुओं के संग्रह, भट्टारकों के संग्रह, मठो के संग्रह, मन्दिरों के संग्रह, राजाओं के संग्रह, श्रेष्ठियों के संग्रह तथा सामान्य श्रावकों के संग्रह आज भी प्राप्त होते हैं। प्रत्येक प्राचीन जिनमन्दिर में शास्त्रों की सैकड़ों प्राचीन पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं। शायद ही कोई ऐसा जिनमन्दिर होगा, जिसमे पाण्डुलिपियां उपलब्ध न हों। किसी-किसी मन्दिर में तो इनकी संख्या हजारो में है। किन्तु अधिकांश शास्त्रभंडारो में इनकी समुचित देखरेख नही हो पा रही है। कहीं इन्हें चूहे खा रहे हैं तो कहीं दीमक चाट रहे हैं। कहीं चोरी-छिपे पूरा शास्त्र या उनका महत्वपूर्ण अंश बेचा जा रहा है। यह गंभीर चिन्ता का विषय है। इस ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

भारत को पाण्डुलिपियो का देश कहा जाता है। क्योकि यहां विश्व की सर्वाधिक पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। भारत की इस बहुमूल्य संपदा से विदेशी लोग अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। सैकडों विदेशी पाण्डुलिपियो के अध्ययन हेतु भारत आये। यहां उन्होंने पाण्डुलिपियो का भरपूर उपयोग किया। अन्त में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व की पाण्डुलिपियां येन-केन प्रकारेण अपने-अपने देश ले गये। आज ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देशो में लाखों भारतीय पाण्डुलिपियां मौजूद है। वहा वे भारत से बेहतर व्यवस्था में सुरक्षित हैं। यही नही अनुसन्धान हेतु उनकी प्रतिलिपियां प्राप्त करना सरल है। इसके विपरीत अपने ही देश के सरकारी-गैरसरकारी और व्यक्तिगत संग्रहों से अनुसन्धान हेतु पाण्डुलिपि, उसकी जोराक्स प्रति या माइक्रोफिल्म प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

देवदर्शन हमारी दैनिक क्रिया का प्रमुख अंग है। हम प्रतिदिन देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करते हैं। उन्हें अर्घ्य चढ़ाते हैं। यथार्थ में हमारी यह दैनिक क्रिया केवल देव (जिनदेव) तक ही सीमित रह गई। देव मन्दिर के स्वाध्याय कक्ष मे विराजमान शास्त्र की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जिनका ध्यान जाता है, वे उनकी धूल साफ करने में स्वयं को गौरवहीन समझते हैं। परिणाम स्वरूप शास्त्र संपदा नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। इस दिशा मे ठोस कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। जैन समाज के पास भारत की सर्वाधिक पांडुलिपियां हैं। किन्तु उनकी सुरक्षा

(शेष पृ० १३ पर)

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में सुलोचना चरित

□ श्रीमती कल्पना जैन, शोधछात्रा

जैन साहित्य में चरित काव्यों की प्रधानता है। मानव-जीवन को विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों से सार्थक करने की दिशा में जो भी व्यक्ति पुरुष अथवा नारी अपने जीवन को लगा देते हैं उनके चरित को अमर रखने के लिये जैन कवि अपनी लेखनी चलाते रहे हैं। यही कारण कारण है कि तीर्थंकरों के जीवन के अतिरिक्त अन्य महा-पुरुषों एवं महासतियों का जीवनचरित काव्य का विषय बना है। जैन साहित्य में स्त्री पात्र प्रधान रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गई है[1]। उनमे सुलोचना चरित प्रचलित कथानक है। यह कथानक प्राकृत अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषाओं में विकास को प्राप्त हुआ है।

प्राकृत सुलोचना चरित :

सुलोचना कथा आठवीं शताब्दी के पूर्व इतनी प्रसिद्ध थी कि तात्कालीन प्राकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रतिष्ठित कवि अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख किये बिना नहीं रहे। प्राकृत चम्पू काव्य कुवलयमाला के लेखक उद्योतन सूरि ने सुलोचना कथा का इस रूप मे स्मरण किया है—

"जिसके द्वारा समवसरण जैसी जिनेन्द्र देवों से युक्त और धर्मकथाबन्ध को सुनकर दीक्षित होने वाले राजाओ से युक्त अच्छी तरह से कहने योग्य सुलोचना नामक कथा कही है (उस कवि को नमस्कार है)"—

संपिहय—जिणवरिंदा धम्मकहा-बंध-दिक्खिय-परिंदा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व ॥[2]

कुवलयमाला के सुलोचना के इस उल्लेख से यह तो ज्ञात होता है कि प्राकृत मे सुलोचना कथा नामक यह ग्रन्थ काव्य-गुणो से युक्त रचना रही होगी किन्तु इसका कवि कौन था इसका उल्लेख इस सन्दर्भ मे नही है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने इसका कवि हरिवर्ष को माना है और पण्डित दलसुख भाई मालवणिया कवि प्रभन्जन को इस कथा का कर्ता मानने का सुझाव देते हैं[3]। किन्तु प्राकृत की यह सुलोचना कथा अभी तक किसी ग्रन्थ भण्डार से उपलब्ध नही हुई है। अतः इसके सम्बन्ध मे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्राकृत सुलोचना कथा के सन्बन्ध मे एक सन्दर्भ देव-सेनगणि की अपभ्रंश रचना "सुलोचणाचरिउ" में भी प्राप्त होता है जिसमे कहा गया है कि कुन्दकुन्दगणि के द्वारा प्राकृतगाथाबद्ध सुलोचना चरित को इस प्रकार से मैं (देवसेनगणि) पद्धड़िया आदि छन्दो मे (अनुवाद) कर रहा हूं किन्तु उसे कोई गूढ अर्थ प्रदान नही कर रहा हूं—

जं गाहा-बंधे आसि उत्तु
सिरि कुंदकुंद-गणिणा णिरुत्तु।
तं एव्वहि पद्धडियहिं करेमि,
परि किं पि न गूढउ अत्थु देमि ॥[4]

देवसेनगणि के इस उल्लेख पर विद्वानो ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। क्योंकि कुन्दकुन्दगणि की जो प्राकृत रचनाए अभी तक उपलब्ध हुई है उनमे सुलोचना चरित सम्मिलित नही है। प्राकृत सुलोचना चरित के ये दोनों उल्लेख इस संभावना को बनाये हुये हैं कि प्राकृत की सुलोचनाचरित रचना प्राचीन समय मे प्रचलित थी। संभव है, कभी इसकी प्रति उपलब्ध हो जाये।

(पृ० १२ का शेषांश)

के प्रति समाज उदासीन है। समाज पर अनेक जिम्मेदारियां हैं। देव, शास्त्र और गुरु की रक्षा एवं संवर्धन उसका प्रमुख कर्तव्य है। इसके लिए अब युवा पीढ़ी को अब आगे आना चाहिये। उसे इस अनमोल धरोहर की सुरक्षा के लिये क्रान्तिकारी कदम उठाने का संकल्प करना चाहिये। युवापीढ़ी को समाज के अनुभवी बुजुर्गों, विद्वानों और साधु संस्था का विशेष मार्गदर्शन मिलना चाहिये। यही मेरा नम्र निवेदन है।

—प्राकृत एवं जैनागम विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सुलोचनाचरित प्राकृत में लिखा गया था इसका विश्वास आचार्य जिनसेन और महाकवि धवल के उल्लेखों से भी दृढ होता है। उद्योतनसूरि की कुवलयमाला से पांच वर्ष बाद लिखे गये हरिवंशपुराण मे आचार्य जिनसेन ने कहा है कि शील अलंकार को धारण करने वाली और मधुरा महिला के समान कवि महासेन की सुलोचना कथा किसी कवि के द्वारा वर्णित नही की गई है? अर्थात् हर कवि ने उसकी प्रशंसा की है—

महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥[1]

महाकवि धवल ने अपने अपभ्रंश भाषा के हरिवंशपुराण मे मुनि रविसेण के पद्मचरित के साथ मुनि महासेन द्वारा रचित सुलोचनाचरित का भी उल्लेख किया है—

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण, पउमचरिउ मुणि रविसेणेण।[1]

इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कवि महासेन ने सुलोचनाचरित लिखा था। आठवी शताब्दी के पूर्व महासेन नामक कवि किस भाषा के थे और उन्होने सुलोचना चरित किसमें लिखा था, यह स्पष्ट नही है। किन्तु सभवतया यह रचना प्राकृत मे लिखी होनी चाहिए। क्योंकि आठवी शताब्दी के पूर्व अपभ्रंश की अपेक्षा प्राकृत की अधिक समर्थ प्राकृत कथाएं लिखी गई हैं। यहां यह भी ध्यान मे लेने योग्य बात है कि अपभ्रंश सुलोचना चरित के कवि देवसेनगणि (१२वी सदी) ने जिन पूर्व कवियों के नाम गिनाये है, उनमे इन महासेन का नाम नही है।

सुलोचनाचरित मे प्रमुख रूप से सुलोचना के स्वयंवर, उसकी पति भक्ति, उसके शील, धर्म, उसके पति जयकुमार के पराक्रम और धर्मपरायणता आदि कुछ ऐसे प्रसग हैं जो कवियो को काव्य लिखने के लिए आकर्षित करते रहे है। प्राकृत की मूल रचना तो उपलब्ध नही है, किन्तु सस्कृत और अपभ्रंश मे इस कथा को लेकर निम्न प्रमुख रचनायें उपलब्ध है:—

१. महापुराण —(पर्व) गुणभद्र
२. सुलोचना नाटक —(विक्रान्तकौरव) हस्तिमल्ल
३. सुलोचनाचरित —वादिचन्द्र
४. जयकुमारचरित —ब्रह्म कामराज
५. जयकुमारचरित —ब्रह्म प्रभुराज
६. जयोदय महाकाव्य—पंडित भूरामल

ये सभी संस्कृत रचनायें हैं, जिनकी विभिन्न पांडुलिपियां ग्रन्थ भण्डारों मे उपलब्ध हैं[1]।

अपभ्रंश सुलोचना चरित—अपभ्रंश भाषा में सुलोचनाचरित लिखे जाने की जो सूचनायें प्राप्त हैं उनके अनुसार ब्रह्मदेवसेन ने गाथा छन्द में जयकुमारचरित लिखा है और तीसरी अपभ्रंश रचना देवसेनगणि की है। इनमे से प्रथम दो रचनाओं का उल्लेख जिनरत्नकोष में है। इनकी प्रतियां पचायती जैन मन्दिर दिल्ली में उपलब्ध होने की सूचना है[1] तीसरी अपभ्रंश रचना प्रसिद्ध है, जिसका संक्षिप्त परिचय यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

देवसेनगणिकृत सुलोयणाचरिउ :

इस कृति को पांच प्रतियों का विवरण डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने दिया है। उनके अनुसार दिगम्बर जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली मे दो प्रतिया आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर (अब श्री महावीर जी) एव एक प्रति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, नागौर मे उपलब्ध है[1]।

देवसेनगणि की कृति सुलोचनाचरिउ का परिचय देने से पूर्व सुलोचना कथा को सक्षेप मे ज्ञात कर लेना आवश्यक है। राजा श्रेणिक ने जब गौतम गणधर से इस सुलोचना कथा को सुनना चाहा तो उन्होने जो जयकुमार और सुलोचना का चरित सुनाया वह सक्षेप मे इस प्रकार है।

संक्षिप्त कथा वस्तु :—राजा श्रेणिक को कथा सुनाते हुए गौतम गणधर कहते है कि भगवान वृषभदेव के ८४ गणधर थे, ये सभी सातों ऋद्धियो से सहित थे और सर्वज्ञ देव के अनुरूप थे। इनमे इकहत्तरवीं सख्या को प्राप्त करने वाले गणधर जयकुमार थे। उनकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है।

जम्बू द्वीप के दक्षिण मे कुरुजांगल नाम का विशाल देश है। उस देश में हस्तिनापुर नाम का एक नगर है। उस नगर का राजा सोमप्रभ था। उस राजा की लक्ष्मीवती नाम की अत्यन्त सुन्दर पतिव्रता स्त्री थी। लक्ष्मीमति व सोमप्रभ के जयकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा सोमप्रभ के और भी चौदह पुत्र थे तदन्तर राजा सोमप्रभ अपने बड़े पुत्र जयकुमार को राज्य सौंपकर अपने

छोटे भाई के साथ भगवान वृषभदेव के पास गये और दीक्षा लेकर मोक्ष सुख का अनुभव करने लगे। जयकुमार ने राज्य-भार संभाल लिया।

इसी भरतक्षेत्र मे काशी नाम का देश है। इस काशी देश में एक वाराणसी नाम की नगरी थी अपने नाम से ही शत्रुओं को कम्पित कर देने वाला राजा अकम्पन उस नगरी का स्वामी था। उसके सुप्रभा नाम की देवी थी। उस सुप्रभा देवी से नाथ वंश के अग्रगण्य राजा अकम्पन के अपनी दीप्ति के द्वारा दिशाओं को वश मे करने वाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे। अकम्पन और रानी सुप्रभा के सुलोचना तथा लक्ष्मीमति ये उत्तम लक्षणों वाली दो कन्यायें उत्पन्न हुई थी उस सुलोचना ने श्री जिनेन्द्र देव की अनेक रत्नमयी प्रतिमायें बनवायी थी। प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जाने के पश्चात् वह उन प्रतिमाओं की महापूजा करती थी। फाल्गुन महीने की अष्टाह्निका में उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्र देव की पूजा की फिर वह वृषागी पूजा के शेषाक्षत देने के लिए सिंहासन पर बैठे हुए राजा अकम्पन के पास गयी। राजा पूर्ण यौवन को प्राप्त हुई उस विकारशून्य कन्या को देखकर उसकी विवाहोत्सव की चिन्ता करने लगा। तत्पश्चात् राजा ने अपने चारो मन्त्रियो (श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ तथा सुमति) के साथ विचार विमर्श किया। सब मन्त्रियो ने विभिन्न मत रखे। अंत मे सुमति नामक मंत्री की बात सबने स्वीकार की। उसके अनुसार स्वयवर विधि से विवाह होना चाहिए।

काशिराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर में जयकुमार आये। अनेको सुन्दर राजकुमारो यहा तक कि चक्रवर्ती भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के रहने पर भी, सुलोचना ने वरमाला जयकुमार के गले मे डाल दी। स्वयंवर समाप्त होते ही भरत के पुत्र अर्ककीर्ति व जयकुमार के बीच युद्ध हुआ और विजय जयकुमार की हुई। इस घटना की सूचना भरत चक्रवर्ती ने जयकुमार की ही बहुत प्रशंसा की। विवाह के अनन्तर विदा लेकर जयकुमार चक्रवर्ती से मिलने अयोध्या जाते है और वहां से लौटकर जब वे अपने पड़ाव की ओर आते हैं तो मार्ग मे गंगा नदी पार करते समय उनके हाथी को एक देवी ने मगर का रूप धारण कर ग्रस लिया जिससे जयकुमार सुलोचना हाथी सहित गंगा मे डूबने लगे। तब सुलोचना ने पंच नमस्कार मंत्र की आराधना से उस उपसर्ग को दूर किया। हस्तिनापुर पहुच कर जयकुमार और सुलोचना ने अनेक सुख भोग।

किसी अन्य समय जयकुमार अपने महल के छत पर आरूढ हो शोभा के लिए बनवाये हुए कृत्रिम हाथी पर आनन्द मे बैठा हुआ था, इतने में उसे विद्याधर दम्पति दिखे उन्हे देखकर "हा मेरी प्रभावती" इस प्रकार कहकर मूर्च्छित हो गया। इसी प्रकार सुलोचना कबूतर का जोड़ा देखकर "हे मेरे रतिवर" कहकर मूर्च्छित हो गई। मूर्च्छितरहित होने पर जयकुमार ने सुलोचना से पूछा कि तुम लोग इतनी दुखी क्यो हो। उन दोनो को जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होने के ही स्वर्ग पर्याय से सम्बन्ध रखने वाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया। इस प्रकार पूर्व भवावलियो का वर्णन करते हुए वे सुख मे समय बिताने लगे। एक बार एक देव ने आकर जयकुमार के शील की परीक्षा की। पीछे जयकुमार ने संसार से विरक्त हो भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ले ली[१०]।

कवि परिचय :

अपभ्रंश सुलोचनाचरिउ के कर्ता श्री देवसेनगणि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जो प्रशस्ति दी है उससे ज्ञात होता है कि वे निबडिदेव के प्रशिष्य और विमलसेन गणधर के शिष्य थे। उन्होने इस ग्रंथ की रचना राजा मम्मल की नगरी (मम्मलपुरी) मे रहते हुए की थी[११]।

देवसेनगणि ने इस ग्रन्थ की रचना राक्षस सवत्सर के श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुद्धवार के दिन की थी[१२]। ये राक्षस सवत्सर या विक्रम सवत् क्या माना जाय इस पर विद्वानो मे मतभेद है। प० परमानन्द जैन शास्त्री ने राक्षस संवत्सर को विक्रम सवत् ११३२ (१०७५ ईस्वी २६ जुलाई) माना है। उनका कहना है कि दूसरा राक्षस सवत्सर वि० स० १३७२ (१११५ ई १६, जुलाई) माना जाता है। इन दोनो मे २४० वर्षों का अन्तर है। किन्तु देवसेनगणि का समय प्रथम राक्षस संवत्सर अर्थात् विक्रम सवत् ११३२ मानना उपयुक्त है"। इस सम्बन्ध मे अभी पर्याप्त ऊहापोह की आवश्यकता है क्योंकि कुछ विद्वान देवसेनगणि को १५वी शताब्दी का मानते है।

अपनी गुरु परम्परा के सम्बन्ध में देवसेनगणि ने ग्रंथ की आद्यप्रशस्ति में कहा है कि वीरसेन एवं जिनसेन आचार्यों की परम्परा मे बहुत से शिष्यों वाले होट्टल-पुत्र गुरु थे। उनके गड विमुक्त (गंड्डूयुक्त) नामक शिष्य थे और उनके शिष्य रामभद्र थे जो चाल्लुक्य वश की राज परपरा के थे[१४]। इस रामभद्र के शिष्य निवडिदेव थे। उनके शिष्य श्री मालिधारिदेव और विमलसेन थे। उन विमलसेन के शिष्य मुझ देवसेन मुनि ने इस ग्रन्थ की रचना की है। कवि की इस मुनि परम्परा का सूक्ष्म अध्ययन करने से उनके निश्चित समय को निर्धारित किया जा सकता है।

देवसेनगणि ने अपने इस काव्य मे अपने से पूर्ववर्ती वाल्मीकि, व्यास, श्रीहर्ष, कालिदास, बाण, मयूर, हलीए, गोविंद, चतुर्मुख, स्वयभू, पुष्पदत और भूपाल नामक कवियों का उल्लेख किया है[१५]। इससे स्पष्ट है कि देवसेन २०वी शताब्दी के बाद ही हुए हैं। उन्होंने इन कवियो के सामने अपने को बहुत छोटा कवि माना है। किन्तु उनकी यह आत्मलाघव प्रवृति का परिचायक है।

सुलोचनाचरित रचना का परिचय देते हुए देवसेन कहते हैं कि अनेक प्रकार के भेदों (अवान्तर कथाओं एव रहस्य) से भरी हुई सुन्दर और प्राचीन कथा को में कहता हूं यह कथा सुलोचना के विचित्र वृतान्तों से युक्त है और नृपपुत्र जयकुमार को आनन्द प्रदान करने वाली है यह कथा व्रतों के पालन करने वालो के द्वारा मिथ्यात्व को नाश करने वाली एवं सम्यक्त्व को दृढ़ करने वाली है[१६]। इस तरह अपभ्रंश की सुलोचना कथा सांस्कृतिक महत्व की रचना है।

द्वारा—श्री सतोष जैन
प्रभा प्रिन्टर्स
३२१-ए, सी सेक्टर शाहपुरा,
भोपाल

सन्दर्भ-सूची

१. चौधरी, गुलाबचन्द : जैन साहित्य का बृहत इतिहास, भागद, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १६७३ पृ. ३३४ आदि।
२. कुवलयमालाकहा : ३.३०
३. जैन, प्रेम सुमन : कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १६७५, पृ. ३८।
४. सुलोचनाचरिउ (आमेर पाडुलिपि), सधि १, कड़वक ६
५. हरिवशपुराण (जिनसेन)।
६. हरिवंशचरिउ (धवल) अप्रकाशित पाडुलिपि।
७. वेलणकर, एच. डी., जिनरत्नकोश, पृ. १३२।
८ जैन, कुन्दनलाल, दिल्ली जैन ग्रन्थ-सूची।
६. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, अपभ्रश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, दिल्ली, १६७२ पृ. १७३।
१०. सुलोचनाचरितम् (वादिचन्द्र) अप्रकाशित पाडुलिपि के आधार पर।
११. णिवमम्मूलहो पुरिणिवसते चारुदठाणें गुणगणवंते।
—सधि १ कड़वक ४
१२. रक्खस-संवच्छर बुह-दिवसए,
सुक्क चउद्दसि सावय-मासए।
चरिउ सुलेयणाहि णिप्पण्णउ,
सद्द-अत्थ-वण्णण सपुण्णउ॥ —अंतिम प्रशस्ति
१३. शास्त्री परमानन्द जैन; जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसग्रह, भाग २, पृ. ७२।
१४. रामभट्ट णामें तव सारकउ,
चालुक्कियवसहो तिलउल्लहु। —अंतिम प्रशस्ति
१५. ग्रन्थ की आद्य प्रशस्ति, सधि १, कड़वक ३।
१६. आयण्णहो बहुविहु-भेय-भरिउ,
हउ कहमि चिराणउ चारु चरिउ।
वइयरहें विचित्तु सुलोयणहें,
णिवपुत्तहो मयणक्कोवणाहें।
वयवतिहि हयमिच्छात्तियाहें,
वरदिढ-सम्मत्त-पउत्तियाहें॥ —वही, कड़वक ६

दुबकुण्ड की जैन स्थापत्य एवं मूर्तिकला

□ नरेश कुमार पाठक, रायपुर

मुरैना जिले की स्योपुर तहसील में चम्बल एवं कूनों नदी के मध्य दुबकुण्ड ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण-पश्चिम में शिवपुरी से ४४ मील उत्तर-पश्चिम मे मुरैना श्योपुर के सीधे मार्ग पर तथा ग्वालियर से सडक द्वारा ९८ मील की दूरी पर घने जंगल मे स्थित है। इसी पर्वत और वन बाहुल्य आदिवासी प्रदेश मे दसवी शताब्दी के अन्त मे कच्छपघात वंश ने शक्ति सचयकर राज्य स्थापित किया। यहां से मिले दो शिलालेखों मे एक विक्रम सवत् ११४५ का विक्रमसिंह का शिलालेख तथा दूसरा विक्रम सं० ११५२ का काष्ठसंघ के महाचार्यवर श्री देवसेन की पादुका युगल का शिलालेख महत्वपूर्ण है[1]। शिलालेखो मे दुबकुण्ड का वास्तविक नाम डोभ दिया गया है यहा एक कुण्ड भी वर्तमान में है, जो बारह मास जल से भरा रहता है। इसी कारण इसका डोभकुड नाम पड़ा है, जो वर्तमान मे दुबकुड के नाम मे जाना जाता है। शिलालेख के अनुसार कच्छपघातो की पाँच पीढ़ियों का इतिहास मिलता है। प्रथम राजा युवराज था जिसका समय १००० ईस्वी माना जा सकता है। युवराज न तो नृपति था न भूप अत: राज्य का प्रथम शासक भूपति अर्जुन ही था भूपति अर्जुन के उत्तराधिकारी का नाम अभिमन्यु था, अभिमन्यु कच्छपघात का सम्बन्ध भोज परमार से था इसके उत्तराधिकारी का नाम विजयपाल था। इसका समय लगभग १०४३ ईस्वी माना जा सकता है। इसका उत्तराधिकारी विक्रम सिंह कच्छपघात राजा हुआ। शिलालेख मे विक्रम सवत् ११४५ मे इसके दिये गये दान का उल्लेख है[2]। इसे अभिलेख मे महाराजाधिराज कहा गया है। अत: यह किसी का सामन्त नही था। विक्रमसिंह ने ऋषि तथा दाहड़ नामक दो जैनो को श्रेष्ठिन की उपाधि दी थी, वे यहा दो पीढ़ी से रह रहे थे। उनका प्रपिता जासूक जायसपुर से डोभ आया था। डोभ मे लाटवाणगटगण के जैन मुनियों की परम्परा का उल्लेख है। शान्तिशेष के शिष्य विजयकीर्ति ने नगर निवासियों को प्रेरित कर विशाल जैन मन्दिर का निर्माण करवाया। विजय सिंह ने भी इस मन्दिर के निर्माण कराने में सेवा पूजा मरम्मत आदि के लिए व्यवस्था की। महाचक्र नामक ग्राम मे गेहूं बोये जाने योग्य भूमि इस मन्दिर को दान मे दी थी तथा अनाज मन्दिर को देने हेतु आदेश दिया था। एक उद्यान तथा एक कूप भी इस मन्दिर को दान में दिया था। स्थानीय तेलियो को दीप जलाने के लिए तथा मुनियों को मालिश करने के लिए तेल की व्यवस्था की थी।

दुबकुण्ड मे चार प्राचीन जैन मन्दिरो के भग्नावशेष अभी भी है। प्रथम जैन मन्दिर कच्छपघात राजा विक्रमसिंह द्वारा विक्रम सवत् ११४३ मे बनवाया गया। दुबकुण्ड से प्राप्त विक्रमसिंह के शिलालेख मे "कच्छपघात तिलकवंश' नाम से विभूषित किया गया है। अत: निश्चित इसका सम्बन्ध ग्वालियर के कच्छपघात राजाओ से रहा होगा। २५ × २५ मीटर वर्गाकार एवं ३ फीट ऊची जगति पर निर्मित मन्दिर आकार मे काफी वृहत है। यद्यपि इस समय केवल नीचे का भाग तथा स्तम्भ ही शेष है, किन्तु भग्नावशेषो के निरीक्षण से मन्दिर की वृहता का पता चलता है कि मन्दिर के मध्य मे वर्गाकार खुला आंगन है, जिसके चारों ओर २२ गर्भगृहो का निर्माण हुआ। गर्भगृह के सामने स्तम्भो से युक्त बरामदों का निर्माण हुआ है। इन गर्भगृहो के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी कोने में एक बड़े गर्भगृह का निर्माण किया गया है, जिनमें तीन जैन प्रतिमायें कायोत्सर्ग मे अभी भी स्थित है। प्रत्येक गर्भगृह कायोत्सर्ग मे प्रतिमायें पादपीठो सहित स्थापित है। प्रत्येक गर्भगृह की पहिचान द्वार स्तम्भो से होती है। यह स्तम्भ वर्गाकार आधार पर उल्टे कलशों से निर्मित है। मन्दिर का मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व की ओर

है। द्वार के दोनों ओर गंगा-यमुना नदी देवियो की प्रतिमाएँ परिचारिकाओं सहित अंकित है। अभिलेखों के आधार पर मन्दिर की तिथि सवत् ११५२ या सवत् ११४५ आती है। एक स्तम्भ पर सवत् ११५२ बैशाख सुदी पंचम्याम् श्री काष्ठ सघ महाचार्यवर्य श्री देवसेना पादुका युगलम उत्कीर्ण है[१]। दूसरा जैन मन्दिर २२×२२ मीटर वर्गाकार जगति पर स्थित है। इसमे मध्य मे आगम तथा पूर्व उत्तर एवं पश्चिम तरफ अलग-अलग तीन गर्भगृह रहे होंगे। यहां खण्डित कई प्रतिमाएँ विद्यमान है। तीसरा मन्दिर हर-गौरी मन्दिर से थोड़ी दूर पर एक चबूतरा बना हुआ है। जिस पर चार कीर्तिस्तम्भ थे, किन्तु अब तीन गिरे हुए हैं एवं एक अभी भी खड़ा हुआ है। स्तम्भ वर्गाकार एवं अष्टकोणीय है। प्रत्येक जैन स्तम्भ पर जैन प्रतिमाएँ उकेरी गई है। चौथा जैन मन्दिर नाले से दूसरी ओर स्थित हैं, जिसकी हालत दयनीय है। इसमें एक छोटा सपाट छत वाला मन्दिर है एव इसके अन्दर एक जैन प्रतिमा कायोत्सर्ग मे विद्यमान है। मूर्ति प्राचीन है, किन्तु मन्दिर बाद का प्रतीत होता है[४]।

मूर्तिकला

दुबकुंड से प्राप्त जैन मूर्तियां दुबकुंड, जिला—संग्रहालय मुरैना एवं राजकीय सग्रहालय लखनऊ की निधि है। सभी मूर्तियां सफेद बलुआ पत्थर पर निमित है एवं ११-१२वीं शती ईस्वी की है। यहां से प्राप्त प्रमुख जैन प्रतिमाओं का विवरण निम्नलिखित है :—

आदिनाथ :—जिला सग्रहालय मुरैना मे दुबकुंड से प्राप्त तीन प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमाएँ सग्रहीत है। प्रथम प्रतिमा मे तीर्थंकर आदिनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठे हैं। वितान में विद्याधर युगल आकाश मे विचरण करते हुये दर्शाये गये है। मध्य मे तीर्थंकर के ऊपर त्रिछत्र, दुन्दभिक अंकित है। प्रतिमा के पीछे अलंकृत प्रभा मण्डल है। सिंहासन के मध्य मे खड़ी हुई देवी प्रतिमा है, जिसके नीचे भगवान ऋषभनाथ का ध्वजलांछन वृषभ का आलेखन है। देव प्रतिमा के प्रत्येक ओर हाथी एव सिंह अंकित है। तीर्थंकर श्रीवत्स, त्रिवलय एव उष्णीष से अलंकृत है। मूर्ति का आकार १३५×७० सें. मी. है। दूसरी मूर्ति मे (स. क्र. ५३) तीर्थंकर आदिनाथ का सिर एवं हाथ भग्न है। पादपीठ पर विक्रम स० १३१२ (ईस्वी सन् १२५५) का लेख उत्कीर्ण है। प्रतिमा का आकार ३२×४२ सें. मी. है। तीसरी आदिनाथ प्रतिमा पादपीठ (स. क्र. ४२) पर दोनों ओर सिंह आकृतियो का आलेखन है। नीचे ऋषभनाथ का ध्वज लांछन वृषभ का अंकन मनोहारी है। मूर्ति का आकार २४×२७ से. मी. है। राजकीय सग्रहालय लखनऊ में दुबकुंड की एक मूर्ति (जे. ८२०, ११वी शती ईस्वी) मे त्रिछत्र के ऊपर आमलक एव कलश और परिकर मे २२ छोटी जिन मूर्तियां बनी है। इनमे तीन और पांच सर्पफणो की अच्छादित दो जिनो की पहिचान पार्श्व एव सुपार्श्व से सम्भव है। यह आदिनाथ की मूर्ति प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है[५]।

अजितनाथ :— दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की दुबकुंड से प्राप्त दो प्रतिमाएँ जिला-सग्रहालय मुरैना में सग्रहीत है। प्रथम प्रतिमा मे तीर्थंकर अजितनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित है (स. क्र. ७३) दायें ओर चावरधारी का आलेखन है। प्रतिमा का आकार १००×३८ सें. मी. है। दूसरी प्रतिमा में (स. क्र ४१) अजितनाथ का पादपीठ पर दोनों ओर सिंह, हाथी मध्य मे देव प्रतिमा और भगवान अजितनाथ का ध्वज लांछन हाथी का अकन है। प्रतिमा का आकार ३३×७५ से. मी. है।

पद्मप्रभु :—जिला सग्रहालय मुरैना मे दुबकुंड से प्राप्त छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु की दो प्रतिमाये सग्रहीत है। प्रथम मूर्ति तीर्थंकर पद्मप्रभु कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित है (सं. क्र ६६) तीर्थंकर के सिर व हाथ टूटे हुये है। पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ११×३५ से. मी. है। दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में (स. क्र. ६३) शिल्पांकित तीर्थंकर पद्मप्रभु का ऊपरी भाग खडित है। पादपीठ पर उनका ध्वज लांछन कमल का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ८५×३५ सें.मी. है।

वासुपूज्य :—जिला सग्रहालय मुरैना मे सुरक्षित दुबकुंड से प्राप्त बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य (स. क्र. ८०) की कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित प्रतिमा का मुख खडित है। मूर्ति मे दो जिन प्रतिमा परिचर एव यक्ष-यक्षी प्रतिमा का आलेखन है। पादपीठ पर देव नागरी लिपि मे वि.

सं. ११११३ (ईस्वी सन् १०५६) का लेखा उत्कीर्ण है। प्रतिमा का आकार ८५ × ३५ से. मी. है।

शान्तिनाथ :—जिला सग्रहालय मुरैना में सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की दुबकुण्ड से प्राप्त स्तम्भ से अलंकृत पाषाण पर (स. क्र. २२०) कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित है। तीर्थङ्कर का मुख एव दोनों हाथ खण्डित है। पादपीठ पर चतुर्मुखी देवी सहचरो के साथ अंकित है। वितान मे छत्रावली जिसके ऊपर पद्मासन मे तीर्थङ्कर का आलेखन है। दोनों ओर चामरधारी अंकित है। प्रतिमा का आकार ६३ × ३७ सें. मी. है।

मुनि सुव्रतनाथ :—दुबकुण्ड की जिला सग्रहालय मुरैना मे सरक्षित बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ प्रतिमा पादपीठ पर ध्वज लांछन कूर्म एव सिंह (स. क्र. ५५) युगलो का आलेखन है। दोनो ओर चामरधारी अंकित है। प्रतिमा का आकार ६३ × ३७ सें. मी. है।

नेमिनाथ :—जिला सग्रहालय मुरैना मे बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की दुबकुण्ड से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित प्रतिमा सुरक्षित है। मूर्ति मे चावरधारी एव चतुर्भुजी देवी प्रतिमा का आलेखन है। प्रतिमा का आकार १३० × ४० सें. मी. है।

पार्श्वनाथ :—जिला सग्रहालय मुरैना मे तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मे अंकित प्रतिमा सुरक्षित है। (स. क्र. ८२) तीर्थङ्कर के सिर ऊपर सप्तफण नागमौलि का आलेखन है। पार्श्व मे चावरधारियों का आलेखन मनोहारी है। प्रतिमा का आकार ६५ × ३० सें. मी. है।

महावीर :—चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर की जिला सग्रहालय मुरैना मे दुबकुण्ड से प्राप्त दो प्रतिमाओ का सग्रह है। प्रथम स्तम्भ के मध्य कायोत्सर्ग में महावीर ध्यानस्थ मुद्रा मे अंकित हैं। (सं. क्र. २२१) पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी दोनों हाथो मे कमल की पंखुड़िया लिए बैठी हुई हैं। वितान मे छत्रावली पद्मासन मे जिन प्रतिमाओ का आलेखन मनोहारी है। प्रतिमा का आकार १६५ × ३५ सें. मी. है।

दूसरी मे भगवान महावीर स्वामी का पादपीठ (सं. क्र. १६३) परिचर सहित है। जिस पर विक्रम सवत् १२०५ (ईस्वी सन् ११४८) का लेख उत्कीर्ण है। प्रतिमा का आकार ७० × २७ सें. मी. है।

तीर्थंकर पट्ट :—जिला संग्रहालय मुरैना में दुबकुंड के चार तीर्थङ्कर पट्ट हैं। प्रथम ६० × ३० सें. मी. के आकार के पट्ट पर (स. क्र. ६५) कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थङ्कर अंकित है। इस आकृति को जिन सहस्र भी कहा जा सकता है। दूसरी ३१ × ३० से. मी. के पाषाण खड पर (स. क्र. ७१) आलिन्द मे पद्मासन एव कायोत्सर्ग मे तीर्थङ्कर अंकित है। तीसरी २० × २७ से. मी. आकार की प्रतिमा मे तीन पद्मासन (स. क्र. १४५) एवं तीन कायोत्सर्ग मे जैन प्रतिमाएँ अंकित हैं। चौथी ५० × ६० सें. मी आकार (स. क्र. ७२) प्रतिमा में पद्मासन एव कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थङ्कर प्रतिमाओ का आलेखन है। पाँचवी २५ × २० सें. मी. आकार के पट्ट पर भी पद्मासन एव कायोत्सर्ग मुद्रा (स. क्र. ११८) मे तीर्थङ्कर का आलेखन मनोहारी है।

लांछन विहीन तीर्थंकर :—जिला सग्रहालय मुरैना मे दुबकुण्ड से प्राप्त पद्मासन एवं कायोत्सर्ग मुद्रा निर्मित प्रतिमा सुरक्षित हैं। पद्मासन निर्मित आठ प्रतिमाएँ हैं। प्रथम ४६ × ५८ सें. मी. आकार की सिर विहीन पद्मासन तीर्थङ्कर (स. क्र. ७६) पादपीठ पर विक्रम सवत् १२२८ (ईस्वी सन् ११७१) का लेख उत्कीर्ण है। दूसरा १८ × ६४ सें. मी. आकार की पद्मासन मे तीर्थङ्कर प्रतिमा का कमर से ऊपर का भाग भग्न है (स. क्र. ७७) पादपीठ पर विक्रम सवत् १२०२ (ईस्वी सन् ११४५) का लेख उत्कीर्ण है। तीसरी ३५ × ३५ से. मी. आकार की सिर विहीन पद्मासन (स. क्र. १५०) मे तीर्थङ्कर प्रतिमा बैठी है। चौथी ४० × ३० सें. मी. आकार की आलिन्द के अन्दर खण्डित (स. क्र. १७२) अवस्था मे पद्मासन मे तीर्थङ्कर अंकित हैं। पाँचवी ४० × ३० सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द के अन्दर पद्मासन मे तीर्थङ्कर (सं. क्र. १७७) पार्श्व मे दोनों ओर कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमायें अंकित हैं। छठवी ३० × ३५ सें. मी. आकार का पद्मासन मुद्रा मे (स. क्र. १६५) तीर्थङ्कर प्रतिमा अंकित है। सातवी ३० × ३५ सें. मी. आकार की पद्मासन (सं. क्र. २१०) मुद्रा में तीर्थङ्कर अंकित हैं। आठवी

९३ × ६० सें. मी. आकार की सिर विहीन (सं. क्र. १) पद्मासन मे तीर्थङ्कर प्रतिमा अंकित है।

कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित लांछन विहीन तीर्थङ्कर गकाईस प्रतिमायें जिला सग्रहालय मुरैना मे सुरक्षित है। प्रथम ९५ × ५८ सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त अलिन्द मे (स. क्र. २) कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थङ्कर बैठे हुए है। द्वितीय ९० × ६० सें. मी आकार की स्तम्भ युक्त अलिन्द में (स. क्र. ६) कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थङ्कर प्रतिमा अंकित है। तृतीय १०० × ३५ सें. मी. आकार की कायोत्सर्ग मे तीर्थङ्कर के वितान का ऊपरी भाग एवं बायी भुजा खडित है (स. क्र. ८) पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी अंकित है। चौथी १५० × ४७ सें. मी. आकार के स्तम्भ पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खडित (स. क्र. ९) मुख युक्त तीर्थङ्कर पादपीठ पर बहुभुजी देवी प्रतिमा बैठी है। पांचवी १३० × ३० सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त अलिन्द मे कायोत्सर्ग (सं. क्र. १०) मुद्रा मे मुंह एवं भुजायें भग्न तीर्थङ्कर अंकित है। वितान मे छत्रावली एवं पद्मासन व कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमायें अंकित हैं। छठी १५५ × ४० सें. मी. आकार की स्तम्भ मे कायोत्सर्ग में खडित भुजाओ युक्त (सं. क्र. १२) तीर्थंकर वितान मे छत्रावली, पादपीठ पर चतुर्भुजी देव अंकित है। सातवी १३० × ३५ सें. मी. आकार की कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर (सं क्र. १३) की दोनो भुजायें खडित हैं एवं मूर्ति दो भागो मे निर्मित है। आठवी १३० × ३५ से. मी. आकार की सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर (स. क्र. १५) पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी अंकित है। नौवी ८० × ६४ सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे (स. क्र. २०) तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। दसवी ९५ × ६४ सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द मे (सं. क्र. २५) कायोत्सर्ग तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। ग्यारहवी ८५ × ३२ सें. आकार की सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर के पादपीठ पर (स. क्र. ६२) चतुर्भुजी देवी प्रतिमा व नागरी लिपि मे लेख उत्कीर्ण है। बारहवीं ९५ × ६५ सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द में (स. क्र. ३०) कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमा अंकित अंकित है। तेरहवीं ६० × ३५ सें. मी. आकार का सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर है (सं. क्र. ६४) दोनों हाथ टूटे हुए हैं। चौदहवी ८३ × ३६ सें. मी. सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर (स. क्र. ८१) पादपीठ सिंह आकृतियां एवं कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमाएँ हैं। पन्द्रहवी ५७ × ३३ सें. मी. सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे (स. क्र. ९०) तीर्थंकर की बायी भुजा एवं पैर भग्न है। सोलहवी ३० × २० सें. मी. सिर विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा (सं. क्र. १२०) मे तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। सत्रहवी ४० × २० सें. मी. आकार की खण्डित अवस्था मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे (स. क्र. १७८) तीर्थंकर प्रतिमा का अकन है। अठारहवी १३५ × ३० सें. मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर (स. क्र. २२२) वितान, छत्रावली विद्याधर युगल, पद्मासन जिन प्रतिमाएँ पार्श्व मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमाओं का अकन है। उन्नीसवी १३५ × ३० सें मी. आकार की स्तम्भ युक्त आलिन्द (सं. क्र. २२३) में कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा की बायी भुजा खण्डित है। वितान मे पद्मासन मे दो जिन प्रतिमा अंकित है। बीसवी १३५ × ३० सें. मी. आकार की कायोत्सर्ग तीर्थंकर (सं. क्र. २२४) की भुजाएँ खडित हैं। वितान मे पद्मासन एव कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमायें अंकित हैं। इक्कीसवी १३५ × ३० सें. मी. आकार की कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर अंकित है। (स. क्र. २२५) पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी का अकन है। वितान मे छत्रावली एव पद्मासन और कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमाये है।

उपरोक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त ३० × ३५ सें. मी. आकार की (स. क्र. १८४) तीर्थंकर प्रतिमा एव ७७ × ३२ सें. मी. आकार की सिर विहीन तीर्थंकर के दोनो पार्श्व मे चावरधारी अंकित है। पादपीठ पर चतुर्भुजी देवी प्रतिमा एव कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमा अंकित है।

सन्दर्भ-सूची

१. शिलालेख शुद्ध पाठ :
तस्यक्षिति स्वर वरस्य पुर समस्ति।
विस्तीर्ण शोभम् मितोपी च डोम सज्ञम्॥
२. द्विवेदी हरिहर निवास "ग्वालियर राज्य के अभिलेख" ग्वालियर १९४८, पृ. ११ क्र. ५४।
३. पाण्डेय एल. पी. दुबकुण्ड के कच्छपघात 'अन्वेषिका' ग्वालियर १९८३, पृ. २१-२२।
४. पाठक नरेश कुमार "मुरैना जिले के प्राचीन स्थल" केशव प्रयास संस्कृति विशेषाक ग्वालियर वर्ष ५, अक ६, १९८१, पृ. ८८।
५. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी १९८१, पृ. ८८।

प्रवचनसार में वर्णित "चारित्राधिकार"

☐ कु० शकुन्तला जैन

सनातन जैन परम्परा में कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का एक विशिष्ट स्थान रहा है। उनके रचित समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, परमागमो मे जिनवाणी का सार प्राप्त होता है। 'प्रवचनसार' मे जिनवाणी अर्थात् जिनप्रवचन का सार सग्रहीत किया गया है। कुन्दकुन्दप्रणीत प्रवचनसार पर अमृतचन्द्राचार्य एव जयसेनाचार्य की सस्कृत में विशद टीकाए भी प्राप्त हैं। आचार्य द्वारा रचित प्रवचनसार के अतर्गत जैनधर्म से सबधित विभिन्न पक्षो, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन व सम्यग्चारित्र के विषय में हमे अमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। इन विभिन्न पक्षों को मात्र लेख के रूप मे समग्र रूप मे प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है। अतः प्रवचनसार के एक पक्ष —'चारित्राधिकार' को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। ज्ञान की सार्थकता पवित्र आचरण के द्वारा होती है। आचार्य महाराज प्रत्येक ज्ञानी मनुष्य को चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य अपने दुःख को दूर करना चाहता है तो उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र के धारक सिद्धो व साधु को नमस्कार करके चारित्र को धारण करे। यह दुःख दूर करने का एक मात्र उपाय है।

चारित्र धारण करने के उपाय—प्रवचनसार के अनुसार जिसको चारित्र धारण करना हो वह सबसे पहले जिन के सम्पर्क में रहकर अपना अब तक का जीवन बिताया है उन बन्धुओं से आज्ञा लेवें कि मैं आप लोगों के साथ आज तक बड़े सतोषपूर्वक रहा, आप लोगों ने मेरे जीवनोपयोगी कार्यों में सहायता पहुंचाई, मेरा आदर किया। इसके लिए मैं आपका बड़ा आभार मानता हूं, अब आप मुझे शांत जीवन बिताने की आवश्यकता प्रतीत हुई है अतः मैं गुरुदेव के पास जाकर संयमी बनना चाहता हू इस शुभ कार्य के लिए आप सब मुझे आज्ञा प्रदान करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूं।

इस प्रकार नम्रता व भद्रतापूर्वक सब कुटुम्बियो से बिदा होकर किसी सुयोग्य धर्माचार्य के पास पहुंचें जो रत्नत्रय का धारक हो, अनशनादि तप करने में भी कुशल हो, कुल रूप अवस्था व दीक्षा में भी अपना वर्चस्व रखता हो। जिसको अन्य साधु लोग अपना बड़ा समझकर उसकी आज्ञा मे रहने को पसन्द कर रहे हों। उनसे प्रार्थना करे कि मुझे भी आप अपने चरणो का सेवक बना लीजिए। लेकिन ये दोनो विषय साधक सयमी बनने वाले जीव के लिए सर्वथा अनिवार्य नही है। समय पर इसमे अनेक अपवाद भी आये हुए हैं। फिर भी सर्वसाधारण लोगों को इन दोनों ही नियमो का ध्यान रखना परमावश्यक है। सयम धारण करने वाले मनुष्य को गुरु के पास जाकर प्रार्थना करनी चाहिए कि "हे गुरुदेव! इस स्वार्थी संसार मे रहकर भी मैं किसी का नही हूं और न कोई अन्य मेरा है। भगवन्! अब मुझे भी जैनेश्वरी दीक्षा दीजिये जो आरम्भ और परिग्रह से रहित होती है। जो अपने उपयोग और योग दोनो को शुद्ध बनाते हुए समता को उत्पन्न करने वाली है। हिसा आदि का सर्वथा अभाव होकर जिसमे बाह्याडम्बर भी बिल्कुल नही होता है। इस शरीर मे भी निस्पृहता को प्रगट करने वाला केशलुंचन किया जाता है। जिसमे परावलम्बन का नाममात्र भी न होकर अपने भरोसे पर ही खड़ा हुआ जाता है।"

ऐसा निवेदन करके गुरु के सम्मुख पहिले तो पूर्व के लिए हुए अपने सम्पूर्ण दुष्कृत्यो को स्पष्ट करते हुए उन पर पश्चाताप करे फिर गुरुदेव जो भी आदेश करे, कर्तव्य कार्य बतावें, उसे ध्यानपूर्वक सुने व गुरुजी के आशीर्वादपूर्वक उसे पालन करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ बनना चाहिए

साधु दीक्षा के कर्तव्य—साधु को बिलकुल वस्त्रहीन नग्न रहना चाहिए, नियमपूर्वक एक दिन मे एक बार अन्न ग्रहण करना चाहिए, व एक स्थान पर खड़े रहकर ही लेना चाहिए। तीनों बातो का समर्थन श्वेताम्बर शास्त्रो से भी पूरा होता हैं। उमास्वामी विरचित तत्वार्थ-सूत्र महाशास्त्र जिसको प्रत्येक जैन पूर्णरूप से प्रमाणित मानता है। इसमे बाईस परिषहो के नामो का उल्लेख कारक सूत्र मे छठा 'नग्न परिषह' लिखा हुआ है। अर्थात वस्त्ररहित नग्न रहकर भी निर्विकार रहना जो प्रत्येक मुनि के लिए आवश्यक है।

साधु का दूसरा कर्तव्य मुनि का दिन मे एक बार ही भोजन करना है : दिगम्बर शास्त्रो के अतिरिक्त श्वेताम्बर के आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन के समाचारी नामक २६वे अध्ययन मे लिखा है।

दिवसस्स चऊरो भागे भिक्खू कुज्जा विपक्खणो।
तवोउत्तर गुणे कुज्जा दिण भागेसु चउसु वि॥
पढम पोरसिसमज्झायं वीय झाण झिणयई।
तइयाये भिक्खायरि य पुणो चउत्थी ये सज्झाय॥

अर्थात् ज्ञानी मुनि दिन के ४ भाग करे, पहिले भाग का स्वाध्याय करने मे, दूसरे को ध्यान करने मे, तीसरे को भिक्षावृत्ति मे व चौथे भाग को पुन: स्वाध्याय करने मे व्यतीत करे। दिन-रात के ८ पहरो मे से मुनि के लिए केवल दिन का तीसरा पहर बताया है जिसम वह भिक्षा के लिए शहर मे भ्रमण करके उसी एक प्रहर काल के समाप्त होने से पहले भोजन कर चुके और पुन: आकर अपने स्वाध्याय स्थान में स्वाध्याय करने मे लग जावे। इस सबसे स्पष्ट है कि मुनि २४ घण्टो मे दिन मे एक बार ही भोजन करे।

मुनि एक ही स्थान पर खड़े-खडे ही भोजन लेते है। दिगम्बर जैनाचार्यों के ही नही श्वेताम्बर मान्य जैनाचार्यों के लिखे हुए इतिहास रूप कथा ग्रन्थो मे किसी भी जगह ऐसा नही है कि किसी जैन मुनि ने अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर कही अन्यत्र एक जगह बैठकर खाया हो। सभी उपाख्यानो में ऐसा ही वर्णन मिलता है कि अमुक मुनि ने अमुक श्रावक के यहा आहार लिया। करपात्र योगी नग्न दिगम्बर साधु बने बिना कर्मों का नाश नही किया जा सकता है। यह निर्विवाद सिद्ध है। श्वेताम्बरों के उववाई सूत्र मे प्रश्न २१ मे उल्लेख है कि दिगम्बरत्व से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा ही उत्तराध्ययन मे भी लिखा है। शरीर पर से वस्त्र उतार देने मात्र का ही नाम दिगम्बर नही है। वस्त्र के साथ-साथ संसार के सभी पदार्थों से निस्पृह होकर रहना व अपने कषाय भाव को दूर करके सर्वत्र ही समताभाव को स्वीकार करना दिगम्बरत्व होता है। इसे प्राप्त करनेवाला ही सच्चा साधु होता है तभी वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मुनियों के कुछ महत्वपूर्ण भेद—मुनियो मे प्रधान दो तरह के होते है। एक तो नूतन दीक्षा देकर असंयमी को सयमी बनाने वाले होते हैं। इन्हें गुरु कहते हैं। दूसरे वे जो सर्वसाधारण मुनि किसी कारणवश अपने गुरु के रुचिकर न होने पर अपने व्रतो मे किसी प्रकार की भूल बन जाने पर जिसके आगे प्रायश्चित लेकर उस भूल को ठीक कर लेता है। इन्हे 'निर्यापक आचार्य' कहते हैं।

मनुष्य की चित्तवृत्ति चचल होती है। न मालूम किस समय मे मन का घुमाव किधर हो जाए। ऐसे अवसर पर गिरते हुए मन को सहारा देकर स्थिर करने के लिए सह-योगियों की आवश्यकता होती है। इसीलिए अधिकतर आत्मायें साधक लोग गुरुकुल में सत्समागम में ही रहते है। ऐसे मुनियो को 'अन्तेवासी स्थविरकल्पी मुनि' कहा जाता है। जो मुनि सुदृढ अध्यवसायी होते है जिनको अपने आत्मबल पर पूर्ण भरोसा है, घोर से घोर उपसर्गा-दिक के आने पर भी जो सुमेरु के समान अविचल रहने वाला है जिनके आवश्यक कार्यों मे कभी भी किसी प्रकार की कमी नही रहती है ऐसे महामुनि जहाँ कही भी स्वतत्र रूप से विचरण करते हुए रह सकते हैं इन्हें एकाकी या जिनकल्पी मुनि के नाम से पुकारा जाता है।

सम्पूर्ण प्रकार की वाह्य प्रवृत्ति से दूर होकर ज्ञान दर्शनात्मक आत्मा मात्र मे तल्लीन रहना ही वास्तविक श्रमणत्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापो से साधक को बचकर रहना चाहिए। साधारण रूप से किसी के प्राणों का घात करना, उसे मारना, पीटना वगैरह हिंसा ही है। किसी के साथ धोखेबाजी की बात

करना झूठ है, किसी की वस्तु को बलात्कार से या बहाना बनाकर छीन लेना चोरी है। स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम-भाव का नाम कुशील है। दूसरी वस्तुओं को अपनी मान लेना ममत्वभाव है, मोह परिग्रह है। झूठ, चोरी और कुशील ये तीनों कार्य हिंसा के ही प्रकार हैं जहां किसी भी प्राणी को सीधा कष्ट मे डाला जाता है। उसका नाम हिंसा है जहाँ वचन के द्वारा किसी को कष्ट पहुचाया जाता है उस हिंसा का नाम झूठ है, जहाँ कोई भी वस्तु का अपहरण करके दूसरे को कष्ट दिया जाता है उस हिंसा का नाम चोरी है। जहाँ शील को बिगाडते हुए किसी दूसरे को कष्ट मे डाला जाता है उस हिंसा का नाम कुशील है। जहाँ पर पदार्थ के प्रति अहकार ममकार करते हुए जो अपने परिणाम बिगडते हैं, राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उनका नाम परिग्रह है। इस प्रकार अब दूसरे शब्दों में हिंसा तथा परिग्रह ये दो ही परिहार्य अवशिष्ट रह जाते हैं।

राग-द्वेष बाह्य पदार्थों के निमित्त से होते हैं। इनके अभाव के लिए धन, मकान, वस्त्रादि का त्याग परमावश्यक है। जिस प्रकार शरीर के होते हुए भी इससे राग-रहित होकर रहते हैं वैसे ही वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओ को रखते हुए उनसे राग रहित नही हो सकते। दूसरी ओर प्रवचनसार मे उल्लेख है कि वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओ को भी शरीर की समकक्षता मे रखना भूल है। शरीर धारण आयुकर्म की विशेषत से होता है। इसका दूर होना भी आयु अवसान के अधीन है। शरीर के अतिरिक्त वस्त्रादि सारे सब बाह्य पदार्थों को तो मनुष्य अपनी इच्छा से ही ग्रहण करता है और स्वय ही उनका त्याग कर सकता है। इनको प्राप्त करके धारण करने, धोने, पोछने, सुखाने व बनाये रखने और नष्ट हो जाने पर उसकी जगह दूसरा प्राप्त करने आदि मे व्यग्र रहकर स्पष्ट रूप से हिंसा करनेवाला बनकर मनुष्य पापारम्भी होता है। ऐसा ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत आचारांग सूत्रादि ग्रन्थो मे लिखा हुआ है वह ठीक ही है। वहाँ वस्त्रपात्रादि को मुनिके उपकरण कहे गए हैं। उपकरण तो उसे कहा जा सकता है जो हमारे मूल उद्देश्य में किसी भी प्रकार से सहायक हो। जो विलासप्रिय भोगी लोगों के लिए योग्य न हो, जिस पर आराम करनेवाले संसारियों की दृष्टि नहीं जाती हो। 'यदि यत्नपूर्वक इसकी रक्षा नही करूंगा तो कोई इसको उठाकर ले जावेगा।' इस प्रकार की चिन्ता जिसके ग्रहण करने मे न हो, जो इंद्रियों का पोषक न होकर मनोनिग्रह का समर्थक हो, जिसमे पाप की कोई सम्भावना न होकर प्रत्युत संयम की साधना हो सके जो अनायास रूप से प्राप्त होने योग्य साधारण सी परिस्थितियो को लिये हुए हो, ऐसा कमण्डलु आदि मुनि के ग्रहण करने के योग्य हो सकता है। यह भी उपेक्षा संयम की प्राप्ति से नीचे केवल अपहृत सयम की दशा में ग्राह्य कहा गया है।

पानी रखने का कमण्डलु काष्ठ या तुम्बी का बना हुआ होता है। यह गृहस्थ के काम का नही होता है। अत इसके रखने मे उसकी रक्षा करने के लिए चिन्ता की किंचित भी आवश्यकता नही होती है। इसमे केवल शौच के लिए जल होता। यदि उस जल को पीने आदि के काम में लेने लग जाए तो फिर वह उपकरण न रहकर योग्य वस्तु बन जाती है।

वस्त्र को गृहस्थ अपने लज्जालुपन के कारण अतरग मे रहनेवाले कामुकतादि दोषो को अन्य लोगो की दृष्टि मे छिपाकर रखने के लिए पहिना करता है। स्त्री जीवन मे मायाचारादि दोष नैसर्गिक रूप से होते हैं अतः वे वस्त्र का त्याग नही कर सकती है। इसीलिए श्री महावीर के शासन मे स्त्रियो को अपने उसी शरीर मे सिद्धि की अधिकारिणी नहीं बनाया है।

प्रवचनसार मे योग्य आहार-विहार के विषय मे उल्लेख मिलता है कि साधु को युक्ताहार-विहारी होना चाहिए कि स्वय न बनाकर तथा न किसी दूसरे से भी बनवाकर बिना याचना किये भिक्षावृत्ति से जैसा भी अपने अन्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार मिल जावे, वह भी जो मद्य-मासादि दोषो से सर्वथा रहित शुद्ध हो, ऐसा अन्न का आहार दिन मे एक बार कर लेवे। वह भी पूरा पेट भरकर न खावे तथा स्वाद के लालच से न खावे। क्योकि मुनि के भोजन करने का हेतु केवल ध्यान सिद्धि ही रहता है। भिक्षा का वास्तविक अर्थ दाता के द्वारा दी गई वस्तु को ग्रहण करता है न कि किसी से मागना क्योकि मागना

याचना शब्द का अर्थ होता है जो उससे भिन्न है, कहा भी गया है कि 'मांगने से भीख भी नही मिलती" अर्थात् मांगना भिक्षु को दुखित करने वाला है।

प्रवचनसार के अनुसार द्रव्यलिंगी मुनि श्री जिनवाणी के ग्यारह अग व नौ पूर्व तक के पढ़ने वाले तथा घोर आतपनादि योग रूप से तपस्या करनेवाले होकर भी भवविच्छेद नही कर सकते क्योकि आगम का व्याख्यान करते हुए भी उनके अतरग मे तदनुकूल समुचित श्रद्धान नही होता है। समुचित श्रद्धान और द्वादशाग का ज्ञान होकर भी यदि चारित्र धारण नही किया जाये तो मुक्ति नहीं मिल सकती है। श्री तीर्थंकर भगवान को भी चारित्र धारण करना पड़ता है। ससार के सभी पदार्थों से सबध विच्छेद करना पडता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मे तीनो होकर भी जब तक चारित्र की पूर्णता नहीं हो जाती है तब तक पुनर्जन्म का अभाव नही हो सकता है।

जो मुनि जैन शास्त्रानुसार व्रत नियम आदि का यथाशक्ति पालन करने मे सलग्न है फिर भी हृदय की कुटिलता के कारण श्रद्धान को यथार्थ करने मे असमर्थ हो ऐसे द्रव्यलिंग अवस्था के धारक जैन साधु भी अपने आचरण मात्र से केवल पुण्यबध करके स्वर्ग सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं। वहा से आकर उन्हे संसार भ्रमण ही करना पड़ता है। कभी भी ससार से मुक्त होने मे समर्थ नही हो सकते है। जो लोग गृहस्थाश्रम से मुक्त होकर अपने आपको साधु मानते हुए भी विषय कषायो की पुष्टि करने वाले सांसारिक कार्यों मे ही फसे रहते हैं, जादू-टोना आदि करके साधारण लोगों को प्रसन्न करना ही जिन लोगो का धन्धा है जो रसायन सिद्धि आदि मे लगकर हिंसा करते हुए पापार्जन करने वाले है, ऐसे लोगो को ही प्रभावक तपस्वी मानकर उन्ही की सेवा-सुश्रुषा करने वाले लोग अपनी भद्र चेष्टा के द्वारा जो साधारण पुण्यार्जन करते है उसके फल से अभियोग्य और किल्विषक देवो मे जन्म लेते हैं।

दूसरी ओर जो यह तेरा है और यह मेरा है इस प्रकार की क्षुद्र वृत्ति का त्याग करके समताभाव को धारण किए हुए हो, जो प्राणीमात्र को अपने ही समान अनन्त ज्ञानादि के प्राप्त करने का अधिकारी समझता हो, आप स्वयं सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का ग्राहक बनकर अपने से अधिक गुणवान् के प्रति समादरभाव रखता हो, जहाँ तक हो सके परमात्म चिंतन में तल्लीन रहने वाला हो और कदाचित इससे उपयोग हट जाये तो इसी मे सलग्न अन्य परमात्म-चिन्तक महात्माओं की शुश्रुषा मे लगा रहने वाला हो, मिथ्यात्व अन्याय अभक्षादि पाप वृत्तियो से सर्वथा दूर रहने वाला हो, ऐसा मत योगिराज आप को भी ससार से पार करने वाला है और अपने भक्तो को भी निमित्त रूप मे संसार से पार करने वाला होता है। वह स्वय उसी शरीर से मुक्त बन सकता है। उसकी श्रद्धा-पूर्वक हृदय से सेवा करने वाला भी एक-दो प्रशस्त जन्म धारण करके सदा के लिए अशरीरी हो जाता है।

आत्महितेच्छु साधु को चाहिए कि अतरग मे प्रस्फुट होने वाली वीतरागता को प्रगट कर दिखाने वाले निर्वि-कार निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेश के धारक किसी भी तपोधन को अपने सम्मुख आते हुए देखे तो प्रसन्नतापूर्वक उठकर खड़ा होवे, उसके सम्मुख जावे, हाथ जोडकर उसे नमस्कार करे, रत्नमय की कुशलता आदि प्रश्नों द्वारा सुश्रुषा करे। इस प्रकार सत्कारपूर्वक उसे अपने पास स्थान देवे और उसके आसन शयनादि की समुचित व्यवस्था करे। तत्पश्चात् तीन दिन के सहवास से उसके आचार-विचार और अपने आचार-विचार मे कोई खास अन्तर न हो तो सदा के लिए उसे अपने साथ रख सकता है, ऐसी जिनशासन की आज्ञा है।

आगमानुकूल चलने वाले साधु को कोई यदि समुचित सत्कार नही करता है। प्रत्युत ईर्षा-द्वेष के वश होकर तिरस्कार करता है तो वह स्वयं चरित्रभ्रष्ट है, ऐसा समझना चाहिए। इतना ही नही किन्तु मैं भी साधु हूं, मै कोई कम नही हू इस प्रकार घमड करते हुए जो कोई अपने से अधिक गुणवान साधुओ से भी पहिले अपना विनय कराना चाहता हो तो वह चरित्रभ्रष्ट ही नही किन्तु सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट है।

इसी प्रकार जो मनुष्य अपने मोह की मदता से पदार्थों के स्वरूप को ठीक-ठीक मानने लग गया है, जिसका चित्त शात दशा को प्राप्त हो चुका है अतः जो उचित अनुचित

का विचार करते हुए उचित कार्य करने में ही अग्रसर होना चाहता है, जो गृहस्थ की झझट से उन्मुक्त होकर या तो साधु दशा को ही सफल मानकर उसको धारण करना चाहता है, ऐसा जीव यद्यपि कुछ समय के लिए संसार मे है परन्तु वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करनेवाला है, मुक्ति उससे दूर नहीं है।

जब यह बाह्य परिग्रह की तरह अभ्यन्तर परिग्रह से भी सर्वथा उन्मुक्त हो जावेगा, बाह्य परिग्रह का परित्याग कर देने पर भी चिन्तन अभ्यास के कारण से उन्ही बाह्य बातों की तरफ दौड़ लगाने के लिए परिणमनशील अपने मन को एकान्त आत्म-तल्लीन कर लेगा, राग-द्वेष से सर्वथा रहित शुद्ध हो जायेगा तब पुनर्जन्म भी धारण नही करेगा। अपने आपको बिलकुल राग-द्वेष से रहित शुद्ध बना लेना ही मुक्ति का साक्षात् उपाय है। इस उपाय के द्वारा परिशुद्ध होकर अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को पूर्णतया प्राप्त हो जाने का नाम ही मुक्ति है। इसको प्राप्त कर लेने वाले सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं।

इस प्रकार मुनि के विभिन्न नियम, कर्तव्य और भेद के साथ ही इनका पालन करने वाले महाराज, ज्ञानी व्यक्ति को चरित्रधारण की प्रेरणा किस प्रकार देते हैं इसका विषद वर्णन हमे प्रवचनसार के 'चारित्राधिकार' के भाग से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की सफलता के विषय मे प्रशंसापूर्वक ग्रन्थकार कहते हैं कि जो भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इस शास्त्र को पढेगा वह जैनागम के सारभूत तत्वज्ञान को प्राप्त कर श्रावक या साधु के आचरण को स्वीकार करके, उसके द्वारा शीघ्र ही परमपद को प्राप्त कर सकेगा।

६६, श्रीकृष्ण कालोनी, उज्जन

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥

अर्थ—सूनां घर, वृक्ष का मूल कोटर, उद्यान वन, मसाण भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का शिखर, भयानक वन अथवा वस्तिका, इनविषें दीक्षा सहित मुन तिष्ठें।

सत्तूमित्ते य समा पसंमणिद्दाअलद्धिलद्धिसमा।
तणकंणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

अर्थ—बहुरि जामैं शत्रु मित्रविषें समभाव है, बहुरि प्रशंसा निंदा विषें, लाभ अलाभ-विषें समभाव है बहुरि तृणकंचन विषें समभाव है ऐसी प्रव्रज्या कही है॥

जहजायरूवसरिसा अवलंवियभुय णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

अर्थ—कैसी है प्रव्रज्या - यथाजातरूपसदृशी कहिए जैसा जन्म्यां बालकका नग्न रूप होय तैसा नग्न रूप जामैं है, बहुरि कैसी है अवलंबित भुजा कहिये लंबायमान किये हैं भुजा जामैं बाहुल्य अपेक्षा कायोत्सर्ग खड़ा रहनां जामैं होय है, बहुरि कैसी है निरायुधा कहिए आयुधनिकरि रहित है, बहुरि शांता कहिए अंग उपांग के विकार रहित शांत मुद्रा जामैं होय है, बहुरि कैसी है परकृतनिलयनिवासा कहिए परका किया निलय जो वस्तिका आदिक तामैं है निवास जामैं आपकूं कृत कारित अनुमोदन मन वचन काय करि जामैं दोष न लाग्या होय ऐसी परका करी वस्तिका आदिकमैं वसनां होय है ऐसी प्रव्रज्या कही है॥

अष्टपाहुड की प्राचीन टीकाएँ

डॉ० महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'

पाहुड ग्रंथ आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचनाएँ हैं। दंसण, सुत्त, चरित्त, बोह, भाव, मोक्ख, लिंग और सील इन आठ पाहुडों को 'अष्टप्राभृत' तथा आदि के छह पाहुडों को 'षट्प्राभृत' नाम दिया गया। इन्ही नामों से ये प्रकाशित हुए हैं।

अष्टपाहुड के अब तक प्रकाशित संस्करणों के संपादन मे प्रचीन पांडुलिपियों का उपयोग प्राय. नगण्य हुआ है। इसलिए प्राय: प्रत्येक संस्करणके मूल प्राप्त पाठ मे भिन्नता है। पाठ-भिन्नता के कारण अष्टपाहुड के विशिष्ट अध्ययन मे काफी असुविधाएँ हुई हैं। इन्ही को ध्यान मे रखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की रिसर्च एसोसिएट योजना के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैनागम विभाग मे मैने अष्टपाहुड के सम्पादन का कार्य आरम्भ किया है। अभी तक के अनुसन्धान से मुझे अष्टपाहुड की २६८ पाडुलिपियो की जानकारी मिली है।

देश-विदेश के विभिन्न शास्त्र भंडारों मे अष्टपाहुड की दर्शनप्राभृत (दसणपाहुड), चारित्रप्राभृत (चारित्रपाहुड), भावप्राभृत, भावनाप्राभृत (भावपाहुड), मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड), लिंगपाहुड, सीलपाहुड, षट्प्राभृत (षट्पाहुड] और अष्टप्राभृत आदि नामो से पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

आचार्य अमृतचन्द कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थो के आद्य एवं प्रमुख टीकाकार है। दूसरे प्रमुख टीकाकार आचार्य जयसेन है। उक्त दोनो आचार्यों की समयपाहुड, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु कुन्दकुन्द की नियमसार और अष्टपाहुड जैसी महत्वपूर्ण रचनाओं पर इन आचार्यों की टीकाएँ प्राप्त न होना विचारणीय है।

षट्पाहुड पर श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका तथा अष्टपाहुड पर पंडित जयचन्द छावड़ा की ढूंढारी भाषा वचनिका ये दो टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। अनुसंधान के क्रम से विभिन्न शास्त्र भण्डारों, प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थ सूचियो आदि के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि अष्टपाहुड पर कन्नड, संस्कृत, ढूढारी, हिन्दी आदि भाषाओं मे विभिन्न आचार्यों तथा विद्वानों ने अनेक टीकाए तथा पद्यानुवाद किए है। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार पाहुडो पर तीन प्राकृत टीकाएँ, चार संस्कृत टीकायें, चार हिन्दी-ढूढारी टीकाए और पद्यानुवाद किए गये है। कन्नड़ टीकाए बालचन्द, कनकचन्द और एक अज्ञात टीकाकार की है। संस्कृत टीकाए प्रभाचन्द्र महापंडित; प्रभाचन्द्र श्रुतसागर सूरि और एक अज्ञात विद्वान् की है। ढूढारी-हिन्दी टीकाए और पद्यानुवाद भूधर, देवीसिंह छावडा, प० जयचन्द छावड़ा और एक अज्ञात रचयिता द्वारा किये जाने के उल्लेख हैं।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन की सूचना[1] के अनुसार १३वीं शताब्दी मे बालचन्द ने मोक्षपाहुड पर कन्नड टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार पर कन्नड टीकाए लिखी हैं। तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश पर भी इनके द्वारा कन्नड टीकाए रचे जाने की सूचनायें प्राप्त हैं।[1] मोक्षपाहुड पर बालचन्द्रकृत कन्नड टीका की एक ताड़पत्रीय पांडुलिपि के जैन मठ मूडबिद्री मे उपलब्ध होने की सूचना है। इसकी पत्र संख्या १२ व ग्रन्थांक ७५८ है।[2] मोक्षपाहुड पर ही १३वी शताब्दी मे कनकचन्द ने कन्नड टीका लिखी है।[3] इनके विषय मे विस्तृत जानकारी प्राप्त नही होती।

आरा के जैन सिद्धान्त भवन मे पाहुडों की कन्नड भाषा मे तीन ताड़पत्रीय पांडुलिपियाँ विद्यमान हैं। दो मोक्षपाहुड एवं एक षट्प्राभृत नाम से है। मोक्षप्राभृत के पत्र १७ और १८ तथा ग्रन्थांक १०२८ और १०२९ हैं।

षट्प्राभृत के पत्र ४० तथा ग्रन्थांक ११५७ है। १०२८ नं० की पांडुलिपि मोक्षप्राभृत की है। इसकी लिपि कन्नड है। इसमें मूल प्राकृत गाथाओं की संक्षिप्त टीका भी है। टीका की भाषा कन्नड है। प्रति जीर्ण है। पत्र टूट रहे हैं। इसका परीक्षण कर लिया गया है।

षट्पाहुड पर एक अन्य टीका की सूचना हमें भट्टारक यशःकीर्ति सरस्वती भंडार, ऋषभदेव के प्रकाशित सूचीपत्र[7] से प्राप्त हुई। इस सूची में षट्पाहुड की दो पांडुलिपियों का विवरण है। एक प्रति के विवरण मे टीकाकार के काल में "टी देवी" तथा भाषा के कालम मे "प्राकृत टी" लिखा है। टी देवी के विषय मे कोई जानकारी प्राप्त नही है। सम्भव है पांडुलिपि में कुछ विवरण सुरक्षित हो।

प्रभाचन्द्र महापण्डित ने अष्टपाहुड की 'पंजिका' नाम से संस्कृत टीका लिखी है। डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने इनका समय सम्वत् १०१०-१०६० सूचित किया है।[8] इन्होंने इन्हें "प्रभाचंद्र महापंडित आफ धारा" लिखा है। इस सूचना के अनुसार प्रभाचद्र महापंडित ने प्रवचनसार पर "प्रवचनसार सरोज भास्कर", पञ्चास्तिकाय पर "पञ्चास्तिकाय प्रदीप" और समयसार तथा मूलाचार पर भी टीकाएँ लिखी हैं। अष्टपाहुड पर एक संस्कृत टीका प्रभाचद्र महापडित से भिन्न प्रभाचद्र ने की है। इनका समय १२७० से १३२० ई० है। इन्होने समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर भी टीकाएँ रची हैं।[9] विक्रम की १६वीं शताब्दी के आचार्य श्रुतसागर सूरि ने अष्टपाहुड के दंसण, सुत्त, चरित्त, बोह, भाव और मोक्खपाहुड पर पदखंडान्वयी संस्कृत टीका लिखी है। यह टीका प्रकाशित[*] हो चुकी है। श्रुतसागर सूरि ने कुल ३८ रचनाएँ की हैं। ये टीकाग्रन्थ, कथाग्रथ, व्याकरण और काव्यग्रन्थ हैं।

षट्पाहुड पर एक अन्य संक्षिप्त सस्कृत टीका प्राप्त हुई है। इससे मात्र गाथार्थ स्पष्ट होता है। इस टीका की अनेक पांडुलिपियां भारत और विदेशों में भी मौजूद हैं। इसकी २० पांडुलिपियों की जानकारी है। ये प्रतियाँ जयपुर, महावीरजी, अहमदाबाद, ईडर, ब्यावर, चांदखेडी, बम्बई, इन्दौर, सागर और स्ट्रासबर्ग (जर्मनी) के शास्त्र भडारो में सुरक्षित हैं। इनमे से अहमदाबाद, ईडर, इन्दौर और सागर की चार पांडुलिपियों की जीराक्स प्रतियाँ प्राप्त कर ली हैं। इस टीका का रचयिता अज्ञात है।

षट्पाहुड की एक टब्बा टीका भूधर ने लिखी है। इसकी एक पांडुलिपि जयपुर के दिगम्बर जैन मंदिर ठोलियान के शास्त्रभडार मे विद्यमान होने की सूचना है। इसके पत्र ६२, वेष्टन सख्या २४४ है।[9] यह प्रति सवत् १७५१ की है। इस पाडुलिपि के विवरण से ज्ञात होता है कि यह टब्बा टीका भूधर ने प्रतापसिंह के लिए बनाई थी।

सम्वत् १८०१ मे षट्पाहुड का हिन्दी पद्यानुवाद देवीसिंह छावड़ा ने किया है। इस अनुवाद की तीन पांडुलिपियां ज्ञात है। इन तीनो के अलग-अलग स्थानों म विद्यमान होने की सूचना है। एक दिगम्बर जैन मन्दिर आदिनाथ, बूंदी[10], एक पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, इन्द्रगढ़[11] और एक सम्भवनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, उदयपुर[12] के शास्त्रभडार मे। आदिनाथ मंदिर बूंदी की प्रति सवत् १८५ की है। इससे ज्ञात होता है कि देवीसिंह छावड़ा ने षट्पाहुड का हिन्दी पद्यानुवाद अष्टपाहुड की ढूढारी भाषा वचनिका (प० जयचद छावड़ा सवत् १८६७) से पूर्व किया है।

सम्वत् १८२०-१८८६ के विद्वान् प० जयचद छावड़ा ने सवत् १८६७[13] मे अष्टपाहुड पर ढूढारी भाषा मे वचनिका टीका लिखी। प्राकृत संस्कृत म लोगो की दक्षता प्रायः समाप्त हो जाने के कारण यह टीका बहुत प्रसिद्ध हुई। यही कारण है कि इस टीका युक्त अष्टपाहुड की पांडुलिपियाँ गाँवो-गाँवो मे अब भी सैकड़ो की सख्या मे उपलब्ध हैं। यह टीका प्रकाशित[14] हो चुकी है। पंडित जयचद छावड़ा ने समयसार, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्रव्यसंग्रह, परीक्षामुख, आप्तमीमासा, पत्रपरीक्षा, सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानार्णव आदि अनक ग्रन्थो पर ढूढारी भाषावचनिका लिखी है।[15]

षट्पाहुड पर संवत् १७८६ से पूर्व भी एक हिन्दी टीका लिखी गई है। इस टीका की ३ पाडुलिपियाँ ज्ञात

हैं। २ प्रतियां दिगम्बर जैन मंदिर अभिनन्दन स्वामी, बूंदी मे सुरक्षित हैं।" अभिनन्दन स्वामी मदिर की वेस्टन संख्या १४४ की प्रति संवत् १७८९ मे लिखी गई। यह पाडुलिपि जती गंगारामजी ने सवाई जयसिंह के राज्य में माणपुर ग्राम मे लिखी। इस टीका का लेखक अज्ञात है।

इस तरह अब तक के अनुसधान से अष्टपाहुड एवं षट्पाहुड की ग्यारह टीकाओ की जानकारी प्राप्त हुई है। ये टीकाएँ कन्नड, संस्कृत, ढूढारी और हिन्दी भाषा मे की गई है। उपर्युक्त ग्यारह टीकाओं में से एक श्रुतसागर सूरि कृत संस्कृत की तथा जयचद छावड़ा-कृत ढूढारी भाषा वचनिका टीका ही मुद्रित हुई है।

विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि अष्टपाहुड की टीकाओं तथा टीकाकारों और पांडुलिपियों के विषय मे यदि कोई जानकारी हो तो मझे दें।

—प्राकृत एव जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वारणसी।

सन्दर्भ

१. जैन आथर्स एण्ड देअर वर्क्स, जैना एण्टीक्वैरी, भाग ३७, न० २, पृ० १४ एव परमात्मप्रकाश-प्रस्तावना —डा० ए० एन० उपाध्ये।

२. वही।

३. कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रथ सूची, पृ० १७।

४. कतिपय (दि०) जैन संस्कृत प्राकृत ग्रंथों पर प्राचीन कन्नड टीकाएँ—पं० के० भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-३, किरण-३, दि० १९३५, पृ० ११२। जैन आथर्स एण्ड देअर वर्क्स—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, जैना एण्टीक्वैरी, भाग- ३७, न०-२, पृ० १४।

५. हस्तलिखित शास्त्रो का परिचय, पृ० १८, प्रकाशक रामचंद्र जैन, ट्रस्ट मत्री, ऋषभदेव।

६. जैन आथर्स एण्ड देअर वर्क्स, जैना एण्टीक्वैरी, भाग-३३ नं०-२, पृ० ११।

७. वही, भाग-३४, नं०-२, पृ० ४६।

८. षट्प्राभृतादि संग्रह, माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला समिति, बम्बई, वी. नि. सं०-२४४७। अष्ट-पाहुड, शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, महावीरजी, वी० नि० स०-२४९४।

९. राजस्थान के जैन शास्त्रभडारों की ग्रंथ सूची, भाग-३, पृ० १९४।

१०. आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—डा० कस्तूरचद कासलीवाल, श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ० १ ७।

११. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूची, भाग-५, पृ० २१६।

१२. वही।

१३. सवत्सर दस आठ सत सतसठि विक्रमराय।
मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय॥
—अष्टपाहुड (पांडुलिपि), पत्र २०६, आचार्य महावीरकीर्ति सरस्वती भवन, राजगिर।

१४. अष्टपाहुड, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रथमाला समिति, बम्बई, वी० सं० २४५०।

१५. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-२ पृ० ३२३।

१६. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रथ सूची, भाग-५, पृ० २१९।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड का शुद्धिपत्र

[ब्र० रतनचंद मुख्तार द्वारा सम्पादित तथा शिवसागर ग्रंथमाला से प्रकाशित]

संशोधिका—१०५ आर्यिकारत्न विशालमति माता जी

[आ० क० विवेकसागर शिष्या]

तथा

—जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	११	प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण मान	प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान।
१८	६	कार्माण बन्धन	कार्माण शरीर बन्धन
१८	१७	संयोग से शरीर बन्धन	संयोग से कार्माण शरीर बन्धन
३४	१६	१६ कम करमे उदयापेक्षा	१६ कम करने से उदयापेक्षा
४३	६-११	तदूव्यतिरिक्त	तद्व्यतिरिक्त
४६	१४	कानो कर्म	का नोकर्म
५०	६-१२	पोदूगलिक	पोद्गलिक
५३	२३	सदूभाव	सद्भाव
५६	६	द्वितीय-षष्ठम्	प्रथम-षष्ठ
५७	१०	वज्रनाराच-अर्धनाराच	वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच
६२	१ से ११	बन्ध १०० ६६ १० ११	बन्ध १०० ६६ १० ७२
६२	१०	इस गुणस्थान मे नहीं होता है	इस गुणस्थान में होता है।
६६	२२	कल्पावासिनी	कल्पवासिनी
८८	५	बन्ध योग्य प्रकृति ७१	बन्ध योग्य प्रकृति ६५
१०७	२७	बन्ध कारण भी	बन्ध के भी कारण
१०८	१६	अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण	अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण
१०८	१८	अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण	अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण
११६	१३	एक आवली क	एक आवली को
१२१	१७	अबाधा	आबाधा
१२५	२४	अनुकृष्ट	अनुत्कृष्ट
१३८	४	अनादेय	आदेय
११६	६	वैक्रियक द्विका	वैक्रियिक द्विक का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५०	१९	अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य	एक क्षेत्र स्थित अयोग्य
१५५	६७	८००/३४३	८००/२४३
१५८	२६	सब गुण हानि का	सर्व गुण हानि का
१७०	१८	अरति, शोक और जुगुप्सा का	अरति, शोक भय और जुगुप्सा का
१७१	१६	बन्धने का काल संख्यात गुणा है।	बंधने का काल उससे भी सख्यात गुणा है।
१७९	१०	पाँच अन्तराय प्रकृतियों के	पाँच अन्तराय इन प्रकृतियों के
२०७	६	दो गुण हानि (२ × ८=१६) का	दो गुणहानि (२ × ४=८) का
२०७	८	(१+४=५)	(१+४=५)
२१८	१८	देखा जाता अब	देखा जाता है। अब
२२२	१९	अपनी २ बन्ध में स्थिति कारण होने से	अपनी-अपनी स्थिति-बन्ध मे कारण होने से
२२५	२९	भागित	भाजित
२२६	४	अनुभाग बन्ध्यवसाय	अनुभाग बन्धाध्यवसाय
२३६	१	अनुदय प्रकृति ८२	अनुदय प्रकृति ८०
२३७	२३-२४	व्युच्छिन्न रूप प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान से अयोग केवली गुणस्थान पर्यन्त क्रम से ५-९-१-१७-८-५-४-६-१-१६-३० और १२ हैं।	यह पंक्ति पुनर्मुद्रित हो गई है।
२४४	१७	८-४-६	४-६
२४७	१८	इन पाँच बिना ४२ प्रकृति	इन पाँच बिना घातिया की ४२ प्रकृति
२४८	१५-१६	एवं मिश्र मोहनीय	एवं अनुदय मिश्रमोहनीय
२४८	२०	होने से अनुदय प्रकृति ४	होने से अनुदय प्रकृति ६
२४९	प्रथम नक्शा कोठा नं० ३	उदय ७४ ७२ ५९ ७०	उदय ७४ ७२ ६९ ७०
२५३	प्रथम नक्शा कोठा नं० २	उदय व्युच्छित्ति १ ४ १ ७ ८	उदय व्युच्छित्ति १ ४ १ ८ ८
२५६	१८ चरम पंक्ति	अनुदय २०	अनुदय १०
२८०	१९	दुभग	दुर्भग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८८	११	मत्त संयत गुणस्थान में	प्रमत्त संयत गुणस्थान मे
३०५	७	उदय प्रकृति ९९	उदय प्रकृति ९८
३०५	२९	सासादन गुणस्थान में गुणस्थानोक्त	सासादन गुणस्थान में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त
३०७	५	(७+४+देवगत्यानुपूर्वी व सम्यग्मिथ्यात्व)	(६+४+देवगत्यानुपूर्वी व सम्यग्मिथ्यात्व)
३१३	१०-१२	व्यु० ७६ अप्रमत्त गुणस्थान से अयोगी पर्यन्त व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियाँ क्रम से ४+६+६+१+२+३०+तीर्थंकर विना ११=७६	व्यु० ७६ अप्रमत्त गुणस्थान से अयोगी पर्यन्त व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियाँ क्रम से ४+६+६+१+२+१६+३०+तीर्थङ्कर बिना ११=७६
३२३	१२	जीव अनिवृतिकरण गुणस्थान के चरम	जीव अनिवृत्तिकरण के चरम
३२४	२६	और चरम मय मे	और चरम समय मे
३३०	१३-१४	मे (१६+८+१+१+१+६+१+१+१)	मे (१६+८+१+१+६+१+१+१+१)

३४४ — पंक्ति १६

अशुद्ध:

गुणस्थान	अप्रमत्व	सत्व	सत्व व्युच्छि	विशेष
असंयत	०	१४८	०	,,

शुद्ध:

गुणस्थान	असत्व	सत्व	सत्व व्युच्छि.	विशेष
असयत	०	१४८	१	,,

३४७ — पंक्ति २०

अशुद्ध:

आ	स	मि	सु	ना	उ	स
२	१	१	२	४	१	२

शुद्ध:

आ२	स१	मि१	सु२	ना४	उ१	म२

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४८	६	उद्वेलना होने पर १३३ प्रकृति का······	उद्वेलना होने पर १३१ प्रकृति का······

३५६ — पंक्ति ११

अशुद्ध:

गुणस्थान	असत्व	सत्व	सत्व व्युच्छि.	विशेष
देश सयत	१	१४७		१ तिर्यंच आयु

शुद्ध:

गुणस्थान	असत्व	सत्व	सत्व व्युच्छि.	विशेष
देश सयम	१	१४७	१	तिर्यंच आयु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२२*	२०	एक समय से अन्तर्मुहूर्त से कम काल पर्यंत	एक समय से लेकर अन्त. मुहूर्त काल से कम तक।
४२३	२३	उदय व्युच्छित्ति से होती है।	उदय व्युच्छित्ति से पूर्व होती है।
४२६	१२	वैकेयिक, अंगोपांग, अयश: कीर्ति	वैक्रियिक, अंगोपांग, आहारकद्विक अयश: कीर्ति
४२६	१२	एक समय से अन्तर्मुहूर्त से कम काल	एक समय से लेकर अन्त:मुहूर्त से कम काल तक

* इसे समझने के लिए देखो धवल ८ विषय परिचय पृ० १, २ तथा धवल ८/१००, १०७, १४२ धवल ८/१५५, १००

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३०	११	उदय किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक होता है। १-२ व ४	उदय किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक होता है। १-४
४३१	७	स्वोदय परोदयबन्धी स्वादय बन्धी	स्वोदय परोदय बन्धी स्वोदय बन्धी
४३८	१५	परघाद	परघात
४४०	५	स्थानगृद्धित्रय	स्त्यानगृद्धित्रय
४४०	१५	क्योकि अप्रशस्ता के	क्योंकि अप्रशस्तता के
४४६	८	आदि लेक ३६	आदि लेकर ३६
४८१	२४	अवक्तव्य बन्ध के सव	अवक्तव्य बन्ध के सर्व
४८३	२४	सव [१+२] ३ भग है	सर्व [१+२] ३ भग हैं
४९३	१७	चरम समय तक पुरुष वद का बन्धक है	चरम समय तक पुरुषवेद का बन्धक है।
५१०	५-६	गुणस्थान उदय विकल्प अनिवृति करण सूक्ष्मसाम्पराय	गुणस्थान उदय विकल्प अनिवृत्तिकरण १ सूक्ष्मसाम्पराय १
५१०	२	गुणस्थान संयम प्रमत्त संयम २	गुणस्थान संयम प्रमत्तसंयम ३
५२८	१०	विहायोगति, स्थिर, सुभग	विहायोगति, स्थिर, शुभ सुभग
५३३	१७	नामकर्म के ये चार बन्ध स्थान होते हैं।	नामकर्म के ये पाँच बन्ध स्थान होते हैं।
५३३	१६	चार मनोयोगियों व चार वचनयोगियों में उक्त ८ बन्ध स्थान	चारों मनोयोगियों मे व चार वचनयोगियों एवं औदारिक काय योगियों मे उक्त ८ बन्ध स्थान
५३४	४-५	आहारक द्विक प्रमत्त गुणस्थान मे होता है	आहारक द्विक का बन्ध प्रमत्तगुणस्थान मे नही होता है।
५४०	१६	देव एकेन्द्रिय सहित २६ प्रकृति का	देव एकेन्द्रिय पर्याप्ति सहित २५ प्रकृति का तथा आतप या उद्योत के साथ पर्याप्त तिर्यञ्च सहित २६ प्रकृति का
५४३	२७	कपोत लेश्या का	कापोत लेश्या का
५४५	१३-१४	मनुष्य प्रकृति संयुक्त स्थान का एव	मनुष्य प्रकृति संयुक्त ३० प्रकृति का स्थान एव
५५६	२१-२२	अयोगी गुणस्थान को, अयोगी को अयोगी सिद्ध पद	अयोगी गुणस्थान को, अयोगी सिद्ध पद·········
५६०	११	चालना आठ आठ	चालना से आठ आठ
५६०	२०	पर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय	पर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय
५६३	५	स्थान के ११२५	स्थान के शुद्ध ११, २५
५८०	१६-२१	अथवा उपर्युक्त २६ प्रकृति में सुस्व दुःस्वर मे से कोई एक प्रकृति मिलाने पर··· उच्छ्वास पर्याप्ति में उदय योग्य ३० प्रकृति स्थान है।	ये पंक्तियाँ दो बार मुद्रित हो गई हैं।

(क्रमशः)

जगतगुरु कब निज आतम ध्याऊँ ।।टेक।।

नग्न दिगम्बर मुद्रा धरिके,

कब निज आतम ध्याऊँ ।

ऐसी लब्धि होय कब मोकूं,

जो निज वांछित पाऊँ ।।जगतगुरु०।।

कब गृहत्याग होऊँ वनवासी,

परम पुरुष लौ लाऊँ ।

रहूं अडोल जोड़ पद्मासन,

कर्म कलंक खपाऊं ।।जगतगुरु०।।

केवलज्ञान प्रकट करि अपनो,

लोकालोक लखाऊं ।

जन्म-जरा-दुख देत जलांजलि,

हो कब सिद्ध कहाऊं ।।जगतगुरु०।।

सुख अनन्त विलसूं तिहि थानक,

काल अनन्त गमाऊं ।

'मानसिंह' महिमा निज प्रगटै,

बहुरि न भव में आऊं ।।जगतगुरु०।।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी, नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४६ : कि० २ — अप्रल-जून १९९३

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्-खुरई अधिवेशन में दि० २७-६-९३ को पारित प्रस्ताव

वर्तमान काल में मूल आगम ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन के नाम पर ग्रन्थकारों की मूल गाथाओं में परिवर्तन एवं संशोधन किया जा रहा है। जो आगम की प्रामाणिकता, मौलिकता एवं प्राचीनता को नष्ट करता है। विश्व-मान्य प्रकाशन-संहिता में व्याकरण या अन्य किसी आधार पर मात्रा, अक्षर आदि के परिवर्तन को भी मूल का घाती माना जाता है। इस प्रकार के प्रयासों से ग्रन्थकार द्वारा उपयोग की गई भाषा की प्राचीनता का लोप होकर भाषा के ऐतिहासिक चिह्न लुप्त होते है। अतएव आगम/आर्ष ग्रन्थों की मौलिकता बनाए रखने के उद्देश्य से अ० भा० दि० जैन वि० प० विद्वानों, सम्पादकों, प्रकाशकों एवं उनके ज्ञात-अज्ञात सहयोगियो से साग्रह अनुरोध करती है कि वे आचार्यकृत मूल-ग्रन्थों में भाषा-भाव एवं अर्थ सुधार के नाम पर किसी भी प्रकार का फेर-बदल न करें। यदि कोई सशोधन/परिवर्तन आवश्यक समझा जाए तो उसे पाद-टिप्पण के रूप में ही दर्शाया जाए ताकि आदर्श मौलिक कृति की गाथाएं यथावत ही बनी रहें और किसी महानुभाव को यह कहने का अवसर न मिले कि भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के २५०० वर्ष उपरान्त उत्पन्न जागरूकता के बाद भी मूल आगमों में संशोधन किया गया है। —सुदर्शन लाल जैन

मंत्री

नोट—विद्वत्परिषद् द्वारा पारित उक्त प्रस्ताव सम-सामयिक और आर्ष-रक्षा के लिए कवच है—उसका पालन होना चाहिए। हमसे लोग कहते है आप विद्वानों के नाम बताएँ जिनसे आगम-भाषा विषयक निर्णय लिया जाय। सो हमारी दृष्टि में परम्परित आगम-भाषा भ्रष्ट ही नहीं है तब निर्णय कैसा? यदि सशोधकों की घोषणानुसार परम्परित आगम-भाषा को त्रुटित या भ्रष्ट मान भी लिया जाय तब तो उस भाषा को पढकर डिग्री प्राप्त वर्तमान विद्वान भी भ्रष्ट-ज्ञान ठहरे—वे क्या निर्णय करेंगे? हम तो व्याकरण-बद्ध-भाषा और आर्ष-भाषा दोनो में अन्तर मानते है। आर्ष-भाषा के विषय में समय-प्रमुख (पूर्ण श्रुतज्ञानी-गणधर देव) प्रमाण है—और वर्तमान मे उनका अभाव है। फलत: हमें आर्ष-रक्षा में पारित उक्त प्रस्ताव ही मान्य है। परम्परित-आगम में विद्वानों की ऐसी श्रद्धा का हम सन्मान करते है। —सम्पादक
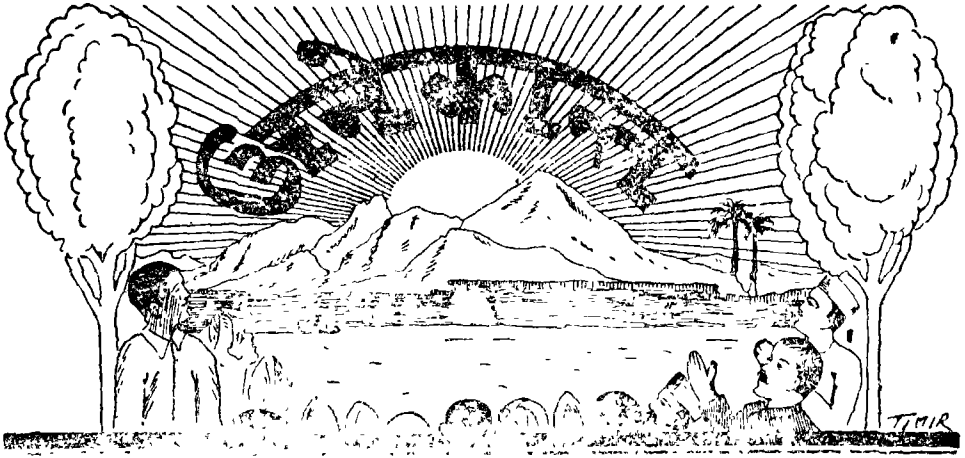
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४६ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०५० | अप्रैल-जून १९९३

गुरु-स्तुति

कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भवदधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छाड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो ।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक बंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा लीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
"दौलत" ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो ।।

(गताक से आगे)

प्राचीन भारत की प्रसिद्ध नगरी—अहिच्छत्र

□ डॉ० रमेश चन्द्र जैन

दूसरी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में जबकि कनिष्क के तत्वावधान मे कुषाणो की शक्ति का विस्तार हुआ तब पंचाल के राजा इसके अधीन हुए तथा सम्भवत: अधीनस्थ राजा के रूप मे शासन करने की उन्हे अनुमति दी गई। किन्तु जब दूसरी शताब्दी के मध्य कुषाण कमजोर पड़े तब अहिच्छत्रा के प्रमुख के साथ उनके अन्य अधीनस्थ राजाओ ने एक साथ देश के अनेक भागो मे विद्रोह खडा कर दिया तथा एक साथ कुषाण साम्राज्य के महल को ढहा दिया, अहिच्छत्रा तथा उसके आस-पास कुषाणो के कम ही सिक्के, जिनमे एक दो वसुदेव के सिक्के है, प्राप्त हुए हैं। अहिच्छत्रा द्वितीय शताब्दी मे प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण नगर था, यह बात भूगोलवेत्ता टालमी (लगभग १५० ई०) के आदिसद्रा नाम से किये गये उल्लेख से प्रमाणित होती है। कुषाणो के पतन तथा गुप्तो के अभ्युदय के मध्य का काल उत्तरी भारत से अनेक गणतत्रों तथा राजतत्रो (जिनमे अहिच्छत्रा राजतंत्र भी सम्मिलित है) के सकट का काल है।

तृतीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे किसी समय मित्रवश का अन्त मालूम पडता है अथवा ये किसी दूसरे वश से आक्रान्त हो गए ज्ञात होते हैं। राजा शिवनन्दी तथा भद्रघोष इसी काल से सम्बन्धित हैं। इनमे से पहले के नाम के सिक्के अहिच्छत्रा से प्राप्त हुए हैं। इनमे तृतीय शताब्दी के लक्षण विद्यमान हैं। ये दोनो नागवश के या उनके उत्तराधिकारी हो सकते है। राजा अच्यु अथवा अच्युत (जिसका उल्लेख अनेक सिक्को मे है) का इन्ही से सम्बन्धित रहा होगा। वह अन्तिम पचाल राजा था तथा चौथी शताब्दी ई० के मध्य वृद्धिगत हुआ।

२०० ई० पू० से ६५० ई० तक अहिच्छत्रा

छ सौ वर्ष के पचालो के इस काल मे राजधानी अहिच्छत्रा ने उल्लेखनीय प्रगति की तथा उत्तर भारत के प्रमुख नगरों मे इसकी गणना होने लगी। यह व्यापारिक मार्ग से बनारस, पाटलीपुत्र, कौशाम्बी, मथुरा तथा तक्षशिला से जुडी थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति मे अहिच्छत्रा को प्राच्यदेश के अन्तर्गत परिगणित किया है। मनु ने पंचाल देश के लोगो को प्रमुख स्थानो पर युद्ध हेतु यह चयन करने के लिए कहा है। सुन्दर मृण्मूर्तियां तथा पाषाण मूर्तियाँ अहिच्छत्रा मे बनाई जाती थी। माला के दाने बनाने का उद्योग यहाँ समृद्ध अवस्था मे था। मालाओ को केवल ऊँची श्रेणी के लोग ही नही पहिनते थे, अपितु मध्यम और निम्न श्रेणी के लोग भी पहिनते थे। पंचालिकाओ के अन्तर्गत हाथी दाँत की गुडियो का अमरकोश मे निर्देश यह बतलाता है कि इस प्रकार की गुडियाँ इस क्षेत्र मे बनाई जाती थी। अहिच्छत्रा मे सम्बन्धित कुछ शक-कुषाण काल की खिलौने की मूर्तियाँ विभिन्न प्रकार के फैशन और जातियो का प्रतिनिधित्व करती है। इससे उस युग के जातीय अन्त. प्रवेश का पता चलता है। रेतीले पत्थर से निर्मित दो मूर्तियाँ अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे मथुरा से मँगाई गई थी। इनमे से एक पर द्वितीय शताब्दी ई० का ब्राह्मी लिपि मे लेख है।

गुप्तकाल के बाद अहिच्छत्रा

गुप्तो के बाद छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पचाल क्षेत्र मौखरी राजाओ के अधिकार मे आया; जिन्होने अपने राज्य का विस्तार अहिच्छत्रा तक किया। इनके यहाँ कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। सम्राट हर्ष के (६०६-६४७ ई०) के वंश के शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि यह क्षेत्र अहिच्छत्रा भुक्ति के शासन का एक भाग था"। इस भुक्ति में अनेक विषय (जिले) थे। प्रत्येक विषय मे अनेक पथक् (परगने) थे। प्रत्येक पथक मे अनेक ग्राम थे।

हर्ष के बाद की स्थिति :

हर्ष की मृत्यु के ५० वर्ष बाद का इस क्षेत्र का इतिहास अवशिष्ट उत्तर भारत के लिए विषमता का था। चन्द कवि के पृथ्वीराज रासो के अनुसार यह कहा जाता है कि लगभग ७१४ ई० मे उस समय के प्रधान शासक रामा परमार ने राजदूत वश की ३६ राजकीय जातियो को भूमि भेट की थी, इसमे से एक केहर जाति थी; जिसे उसने कठेर दिया था। यदि इस परम्परा को सही मान लिया जाय तो यह कठेर शब्द का पहला प्रयोग है, जिसके नाम से रुहेलखण्ड (प्राचीन उत्तरी पचाल); जिसमे बरेली जिला भी सम्मिलित है, पूरे मध्यकाल मे जाना गया।

आठवी शताब्दी के दूसरे चतुर्थ भाग मे अहिच्छत्रा विषय कन्नौज के यशोवर्मन के अधिपत्य मे आ गया। इसके अनन्तर कुछ दशको के लिए कन्नौज के ही राजा आयुध के अधिकार मे आया। नवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे सम्भवत: नागभट्ट द्वितीय के कन्नौज पर अधिकार कर लेने पर गुर्जर प्रतीहारो की उदीयमान शक्ति के हाथ में आया। कुछ लोग इस राजा का नाम विग्रह कहते है, जिसके सिक्के अहिच्छत्र से प्राप्त हुए हैं; इसी स्थान से जो आदिवर ह के सिक्के प्राप्त हुए है वे निश्चित रूप से भोज (लगभग ८३६—८८५ ई०) से सम्बन्धित है जो कि कन्नौज के गुर्जर प्रतीहारो मे सबसे बडा था। दसवी के अन्त तक अहिच्छत्रा का क्षेत्र उनके आधिपत्य मे रहा। यह ज्ञात नही कि यह एक "भुक्ति" के रूप मे उनके सीधे प्रशासन मे था अथवा अपने किसी अन्य अधीन राजा का इसने प्रशासन सौंपा हुआ था।

दसवी तथा ग्यारहवी सदी का अहिच्छत्रा क्षेत्र :— दसवी सदी के कन्नौज के राजकवि राजशेखर ने पचाल के कवियो की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। उसके अनुसार पांचाल नाट्यकला मे निपुण थे और उन्होने रगमच का विकास किया था। पचाली इस क्षेत्र की बोली थी। पंचाली नारी की भद्रता की दूर-दूर तक प्रतिष्ठा थी। मालवा के मनुष्य इस क्षेत्र के निवासियो के परिधान की शैली का अनुकरण करते थे। ११वी शताब्दी के प्रारम्भ मे अलबरूनी ने पचाल को नौ बड़े बड़े राज्यो के अन्तर्गत परिगणित किया है। महमूद गजनवी के धावे के परिणाम स्वरूप अहिच्छत्रा का विनाश निर्धारित किया जाता है। कन्नौज के विरुद्ध १०१६ की चढाई मे महमूद उस नगर को बढने मे पूर्व रामगंगा को पार कर गया था; अत: इस जिले से गुजरा होगा, किन्तु उसकी चढाइयो के प्रसग में अहिच्छत्रा का कही नामोल्लेख नही है, इससे यह प्रतीत होता है कि वह कभी भी इस स्थान पर नही आया था। इसका कारण यह था कि उस समय यह पूरी तरह से आंशिक रूप से उजड चुकी थी।

अहिच्छत्रा का कवि वाग्भट :

वाग्भट कवि ने पन्द्रह सर्गों मे "नेमिनिर्वाणकाव्यम्" लिखा था। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् १०७५—११२५ माना जाता है। इसमे १५ सर्गों मे तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवनवृत्त अंकित किया गया है। वाग्भट नाम के कई विद्वान हुए है। "अष्टाग हृदय" नामक आयुर्वेद ग्रन्थ के रचयिता एक वाग्भट हो चुके है, पर इनका कोई काव्य ग्रन्थ उपलब्ध नही है। नेमिनिर्वाण काव्य की जैन सिद्धान्त भवन आरा की हस्तलिखित प्रति मे; जिसका लेखनकाल वि० स० १७२७ पौष कृष्णा अष्टमी शुक्रवार है, निम्नलिखित प्रशस्ति श्लोक उपलब्ध होता है—

> अहिच्छत्र कुलोत्पन्न: प्राग्वाट कुलशालिन ।
> छाहडस्य सुतं चक्रे प्रबन्ध वाग्भट कवि. ।।

यह प्रशस्ति पद्य श्रवणबेलगोल के स्व० प० जिनदास शास्त्री के पुस्तकालय वाली नेमिनिर्वाण काव्य की प्रति मे भी प्राप्य है[१५]।

प्रशस्ति पद्य से अवगत होता है कि वाग्भट प्रथम प्राग्वाट पोरवाल (परवार) कुल के थे और इनके पिता का नाम छाहड था। इनका जन्म अहिच्छत्रपुर मे हुआ था। महामहोपाध्याय ओझा जी के अनुसार नागौर का पुराना नाम नागपुर या अहिच्छत्रपुर[१६] है। नाया धम्म-कहाओ मे भी अहिच्छत्र का निर्देश आया[१७] है। डाक्टर जगदीश चन्द्र जैन ने अहिच्छत्र की अवस्थिति रामनगर ही मानी है[१८]। अधिकांश विद्वान नेमिनिर्वाण काव्य के रचयिता वाग्भट का जन्म स्थान आधुनिक रामनगर (जिला बरेली) को ही मानते है[१९]।

अहिच्छत्र से प्राप्त मिट्टी की वस्तुएँ

अहिच्छत्रा प्राचीन काल से उत्तर भारत में मिट्टी की वस्तुओं के निर्माण का प्रमुख केन्द्र रहा। विभिन्न प्रकार की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियां यहां प्राप्त हुई है, जो कि लगभग ३०० ई० पू० से ११०० ई० तक की है। इनमें लगभग ३००–२०० ई० पू० की मातृदेवियों की मूर्तियां भी सम्मिलित है। कुछ मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए है; इनका काल १५०० ई० पू० से ६०० ई० पूर्व निर्धारित किया गया है। ३०० से २०० ई० पू० के स्तर में गीली मिट्टी से निर्मित कुछ ईंटें प्राप्त हुई है। आंवा में पकाई हुई ईंटो के ढांचे पश्चात् कालीन स्तर में प्राप्त हुए है, जिनका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० निर्धारित किया गया है। उस समय नगर का साढे तीन मील के घेरे का किला बनाया गया था। लगभग ३५० ई० से ७५० ई० की परत में एक मन्दिर प्राप्त हुआ है, जिसमे बडी-बड़ी ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मूर्तियां मिली है; जो कि मिट्टी को पकाकर बनाई गई थी। धार्मिक मृण्मय मूर्तियों में ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्म से सम्बन्धित देवी देवताओं की छोटी-छोटी मूर्तियां प्राप्त हुई है। ये गुप्तकाल से लेकर मध्य-काल तक की है। कुछ मृण्मूर्तियां जो कि गुप्तकाल से पर-वर्ती तथा मध्य युग से पूर्ववर्ती है, वे शिरोवेष्टन सहित सिर एक विशेष विदेशी शैली के हैं। कुछ स्त्रियां दाये हाथ में बच्चे लिए हुए है अथवा गेंद या खनखनाहट का शब्द करने वाला खिलौना लिए हुए है। कुछ मूर्तियों की आकृति बिल्ली के समान है तथा कुछ घुड़सवार और हस्ति आरोहकों की है। तीन सिर वाली स्त्री मूर्तियां भी मिली है, जो सम्भवतः बच्चों के जन्म की अधिष्ठात्री देवियाँ थी। मल्लों की मूर्तियां भी प्राप्त हुई है। सती पाषाण के पास सती सत्ता (सती तथा उसका मृत पति) की मूर्तियाँ अर्पित की जाती थी। ये मृण्मय लघु मूर्तियां सामान्य जन की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनसे उस समय की अभिरुचि, फैशन, धार्मिक विश्वास, सामाजिक तथा धार्मिक दशा एवं कार्यों का पता चलता है। अहिच्छत्रा के शिव मन्दिर में लगे हुए मिट्टी के फलक बहुत ही सुन्दर मूर्तकला के परिचायक हैं।

मूर्तिकला

अहिच्छत्रा के शिव मन्दिर में लगी हुई गंगा और यमुना की लगभग कार्यपरिमाण मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। अहिच्छत्रा में मौर्य शुंग युग की पुरानी मातृमूर्तियाँ मिली है[20]। अहिच्छत्रा से प्राप्त टिकरों पर मिथुनमूर्ति प्रायः अंकित है। ये टिकरे सांचे से बने हुए हैं और उस युग के है जब डोलियाने और कुछ अंग सांचे से निकालने का सक्रान्तिकाल बीत चुका था स्त्री मूर्तियों में केश और हारों में मांगलिक चिन्ह है। पुरुषमूर्ति सप्ततन्त्री वीणा लिए हुए है। आरम्भ टिकरों पर मिथुन या स्त्री-पुरुष का अंकन था और कुछ काल बाद वही दम्पत्ति या पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो गया। दोनों का भेद यह है—

१. मिथुन प्रकार के टिकरों में स्त्री-पुरुष के बांयी ओर हैं और दम्पति टिकरों में वह बायीं ओर है।

२. मिथुन टिकरों के किनारे टेढ़े-मेढ़े हैं। किन्तु दम्पति टिकरे एकदम सीधे, सच्चे और फलों की गोट तथा पृष्ठभूमि से युक्त है।

३. मिथुन मूर्तियां दम्पति की अपेक्षा अधिक गहनों से लदी है।

४ दम्पति टिकरों पर शुंगकालीन भरहुत को पाषाण मूर्तियों के सदृश ही वस्त्र, आभूषण, केश-विन्यास, भारी उष्णीष और गोलमुख उकेरी है।

५. मिथुन मूर्तियों मे धार्मिक भाव है और कहीं भी काम की अभिव्यक्ति नही है, किन्तु दम्पति मूर्तियों मे प्रेमासक्ति का भाव है।

अहिच्छत्रा के उत्खनन मे प्राप्त मूर्तियों के आपेक्षिक स्तर सूचित करते है कि मिथुन मूर्तियाँ अधिक गहराई में और दम्पति मूर्तियाँ उनके बाद के स्तर (१०० ई० पू० से १०० ई०) में प्राप्त हुई है।

अहिच्छत्रा मे मातृदेवी की दो तीन मूर्तियां सबसे नीचे के स्तरों से प्राप्त हुई हैं (लगभग २०० ई० पू०) उनमे से सबसे प्राचीन स्तर स० ७ (३००–२०० ई० पू०) मिली है[21]। १०० ई० पू० से १०० ई० तक की मूर्तियों में नृत्य करती हुई स्त्रियाँ, माँ तथा बच्चा दाँयें हाथ में

सितार लिए हुए मनुष्य, एक नग्न बच्चा तथा एक खड़ा हुआ सन्यासी प्रमुख है। लगभग १०० से ३५० ई० तक बौने, नगाड़ा बजाने वाले तथा मसक बाजे वालो की लघु मूर्तिया मिली हैं। इनके साथ दीपक, चिड़िया, पालथी मारकर बैठे हुए बौने सगीतज्ञ तथा सकोरे आदि प्राप्त हुए हैं। लगभग ४५०–६५० ई० के धातु के सजे हुए टुकड़े शिव मन्दिर से प्राप्त हुए हैं जिसमे शिव की पौराणिक कथाओ से सम्बन्धित चित्र है। मुड़े हुए धातु के सजे हुए टुकड़े गुप्तकाल के है। इनके अन्दर बनी हुई स्त्री पुरुष मूर्तियां स्त्री पुरुष की बालो की सजावट की विविधता प्रस्तुत करती हैं। कुछ पश्चात् कालीन पति तथा पत्नियो की मूर्तिया धर्मनिरपेक्ष है। इनमे छेद बने हुए है जो सम्भवतः गाय के पवित्र स्थानो अथवा समाधियों पर मनौतियां मनाने वालों द्वारा रखी जाती है।

पुरातात्विक अन्वेषण :

आधुनिक काल मे सबसे पहले कैप्टन हाम्सन अहिच्छत्र पहुंचे थे। उन्होंने अहिच्छत्र की कई मीलों तक फैले हुए किसी प्राचीन दुर्ग का भग्नावशेष बतलाया था, जिसमे सम्भवतः ३४ अट्टालक थे, और जिसे पाण्डु दुर्ग कहा जाता था। अट्टालक प्राय: २८ से ३० फुट ऊचे थे, केवल पश्चिम की ओर ऊंचाई ३५ फीट थी। दक्षिण पश्चिम किनारे के समीप एक अट्टालक ४७ फीट ऊचा है। अन्दर के कठेरों की औसतन ऊचाई १५ से २० फीट है। वर्तमान में प्राप्त कुछ अट्टालक अधिक प्राचीन नही हैं, क्यों कि २०० वर्ष पहले मोहम्मद खां ने इस दुर्ग को पुन: स्थापना की कोशिश की थी। मुहम्मद खां का उद्देश्य इसे अपना किला बनाना था ताकि मुगल बादशाह के द्वारा खदेड दिये जाने पर इसमे शरण प्राप्त की जा सके। नई दीवालों की मोटाई २ फीट ९ इच से ३ फीट ३ इच तक है। प्रचलित परम्परा के अनुसार अली मुहम्मद ने इस दुर्ग के पुनर्निर्माण में एक करोड़ रुपया व्यय किया। अन्त मे इसके भारी व्यय मे विवश होकर उसने इस योजना को छोड दिया। कनिंघम का अनुमान है कि अली मुहम्मद ने एक लाख रुपये इस किले के जीर्णोद्धार में व्यय किये होगे। दक्षिण पूर्व की ओर एक कलात्मक प्रवेश द्वार है, जिसे निश्चित रूप से मुसलमानों ने बनवाया होगा। किन्तु इसमे चूकि उन्होंने नई ईंटें नही लगवाई। अत: केवल मजदूरो पर ही उनका व्यय हुआ। कुछ स्थानों पर अधिष्ठान पर दीवारों की मोटाई १८ फीट तथा कुछ स्थानो पर १४ से १५ फीट तक है। अहिच्छत्र जिला ५०० मील के घेरे मे था। इसमे रूहेलखण्ड का आधा पूर्वी भाग रहा होगा जो कि उत्तरी पहाड़ियों से गगा के मध्य स्थित था। पश्चिम मे पीलीभीत से घाघरा के निकट खैराबाद तक रहा होगा। यह प्रदेश राजमार्ग से ५०० मील ठहरता है[१२]।

१९४० से १९४४ तक आर्कलाजिकल सर्वे विभाग ने किले के मध्य कुछ गिने चुने स्थानो पर खुदाई की थी। खुदाई के परिणामस्वरूप प्रागैतिहासिक कोई वस्तु नही मिली। अतः इस स्थान का महाभारत की पुरानी अहिच्छत्रा से सम्बन्ध जुटाना अभी शेष है। यहा प्राप्त विभिन्न स्तरो का काल इस प्रकार निर्धारित किया गया है।

स्तर—९	३०० ई० पू०
स्तर—८	३०० ई० पू० से २०० ई० पूर्व
स्तर—७	२०० ई० पू० से १०० ई० पूर्व
स्तर—६ तथा ७	१०० ई० पू० से १०० ई०
स्तर—४	१०० ई० से ३५० ई०
स्तर—३	३ ० ई० से ७५० ई०
स्तर—२	७५० ई० से ८५० ई०
स्तर—१	८५० ई० से ११०० ई०

१८६२ ई० के कनिंघम ने भी अहिच्छत्रा के कुछ भाग को खुदाई कराई थी। १८८८ मे रामनगर के एक जमीदार ने खुदाई कराई। आंशिक खुदाई १८९१–९२ मे हुई। १९४०–४४ मे आर्कलाजिकल सर्वे आफ इंडिया विभाग ने अधिक व्यवस्थित और विस्तृत कार्य किया। १९४०–४४ के कार्य के फलस्वरूप ३०० ई० पूर्व से ११०० ई० तक के नौ स्तर प्रकट हुए। सबसे नीचे स्तर पर कोई रचना नही मिली, किन्तु भूरे लाल रग की मिट्टी के बर्तन निकले। यद्यपि उत्तर भारत मे अनेक स्थानो पर, विशेषत: जो स्थान महाभारत की कथा से सम्बन्धित है, यह निकले। इस प्रकार के मिट्टी के बर्तनों के उत्पादक कारखाने उस सक्रमण काल से सम्बन्धित है जो कि हड़प्पा सस्कृति के बाद और ऐतिहासिक युद्ध से

पूर्व का है। इन स्थानो मे बसने वाले प्रारम्भिक आर्यों की सस्कृति की विशेषताओ को यह समाहित किए हुये है। मिट्टी के बर्तनो की बाह्य तथा निचली सीमा लगभग लगभग १५०० ई० तथा ६०० ई० पू० निश्चित की गई है। अहिच्छत्रा में इन बर्तनों के ऊपर वाले स्तर पर बर्तनों की एक दूसरी जाति प्राप्त हुई है। इसका काल छठी-पांचवीं ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० पू० है।

किले के क्षेत्र मे दो बरामदायुक्त मन्दिरो के खंडहर प्राप्त हुए है। गुप्त युग में बनाए प्रतीत होते हैं और बारहवी शताब्दी तक इनका प्रयोग होता रहा। लगभग ७५०–८५० तथा ८५०–११०० की पर्तों को क्रमशः देखने से यह ज्ञात होता है कि इन समयों मे भवन निर्माण का कार्य अधिक नही हुआ।

अहिच्छत्रा के खडहरो मे विभिन्न प्रकार के पदार्थों से निर्मित विभिन्न आकार और नाम के माला के दाने प्राप्त हुए है, जो कि ३०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के हैं। इनमे खोदे हुए सुलेमानी पत्थर से निर्मित, बिल्लौर के बने, नुकेले पत्थर के बने हुए, हरिन्मणि से निर्मित, रत्नमयी, हड्डी से बने तथा बीजो से बने मनके सम्मिलित हैं। कुछ दानो पर ऊंची किस्म की पालिश है जो कि प्राचीन अहिच्छत्रा के जोहरियो की उत्कृष्ट कारीगरी को सूचित करती है। हरिन्मणि मे किये हुए छेद यह अभिव्यक्त करते हैं कि वस्तु की कठोरता के बावजूद छेदने की वर्मा की तीक्ष्णता तथा निर्धारित धुरी पर खुदाई उत्कृष्ट थी। पालथी मारकर बैठी हुई गर्भवती स्त्री के झुमके का घुमाव तथा नक्काशी बड़ी योग्यता से की गई है यह आकृति शुग काल लगभग (२००–१०० ई० पूर्व) की निर्धारित की गई है। प्राचीन भारतीय नीले और हरे रग के शीशे के नमूने, जो कि प्रथम शताब्दी ई के हैं भी खोद निकाले गए हैं। भारी संख्या मे मौर्य काल से लेकर मध्यकाल से पूर्व के सिक्के बहुत ही शैव, वैष्णव तथा बौद्धधर्म सम्बन्धी पाषाण प्रतिमायें मन्दिरों के अवशेष, समाधियां, स्तूप, मठ, तालाब, किले की प्राचीर, गलियां, मकान, भवन आदि भी प्रकाश मे लाए गये है। खुदाई तथा अन्वेषण से प्राचीन ईंट निर्मित नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह नगर प्रायः विस्तृत था। इसमें गलियां थीं। गलियों में प्रवेश हेतु बड़े-बड़े दरवाजे थे। नगर के मध्य मे एक उन्नत मन्दिर था। गली के दोनों ओर व्यवस्थित मकानों की कतार थी। इन पुरातात्विक अन्वेषणो से सिद्ध है कि शताब्दियो पूर्व से मुसलमानो के आगमन काल तक यह क्षेत्र बहुत समृद्ध और वैभवयुक्त रहा था तथा इसकी राजधानी अहिच्छत्रा सभ्यता और सस्कृति की उच्च श्रेणी का प्रतिनिधित्व करती थी। इसी प्रकार यह नगरी इस क्षेत्र के व्यापार तथा उद्योग धन्धे, कला, सामाजिक दशा तथा राजनैतिक स्तर का भी प्रतिनिधित्व करती थी। उत्तर प्रदेश के दूसरे प्राचीन नगरों के समान अहिच्छत्रा हिन्दू जैन तथा बौद्ध परम्पराओ का बहुत बड़ा केन्द्र था। यह परम्परा अब भी जुड़ी हुई है और जैन लोग इसे अब भी पवित्र तीर्थ मानते है।

अहिच्छत्रा मे एक विस्तृत मन्दिर का अहाता जो कि सम्भवतः शिव को समर्पित था, दो बड़े चौरस मन्दिरों के ढाचे तथा बहुत सारी मिट्टी एव पत्थर की देव प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। ब्राह्मण, बौद्ध एव जैन प्रतिमाये गुप्त काल की है। मुख्य बौद्ध स्तूप तथा इसके चारो ओर चार छोटे स्तूपो की रचना तथा कोठारीखेड़ा के जैन मन्दिर की रचना इसी काल की निर्धारित की गई है। इस काल की सुन्दर कलाकृतियां इस स्थान के इस स्थान के मूर्तिकार, स्थापत्यकार जोहरी तथा अन्य शिल्पकारो की प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है तथा यह सूचित करती हैं कि यह एक स्वतंत्र राज्य की राजधानी के अतिरिक्त बड़ा और समृद्ध नगर था। इसमे सुन्दर और ऊंची इमारतें थी। गिलगिट पाण्डुलिपि (जो गुप्तकाल के बाद लिखी गई) मे उत्तर पचाल का वर्णन अत्यधिक समृद्ध एव धन-धान्य से सम्पन्न एवं धनी जनसख्या वाले जनपद के रूप में हुआ है। गुप्तो के बाद छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह क्षेत्र मोखरि राजाओं के अधिकार में आया; जिन्होने राज्य का विस्तार अहिच्छत्रा तक किया। इनके यहाँ कुछ सिक्के खोज निकाले गये है।

पभोसा शिलालेख[२१]

द्वितीय या प्रथम शताब्दी ई० पू०

१. अधियछात्रा राज्ञो शोनकायन पुत्रस्य वगपालस्य।

२. पुत्रस्य राज्ञो तेवणी पुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण।

(शेष पृ० १४ पर)

(गतांक से आगे)

श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व

□ जस्टिस एम० एल० जैन

जे भिक्खू अचेले परिवुसिते, तस्स ण एव भवति—चाएमि अहं तण फास अहियासित्तए, सीयफास अहियासित्तए तेउफास अहियासित्तए, दंसमसगफास अहियासित्तए, एगतरे अण्णतरे वरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हरिपडिच्छादणं चहं णो संचाएमि, अहियासित्तए, एव कथति से कडि बंधण धारित्तए।

अदुवा तत्थपरक्कमन्त भुज्जो अचेल तणफासा फुसंति सीय फ सा फुसति तेउफासा फुसति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवति जमेय भगवता—पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

जो भिक्षु अचेल रहता है तो उसे नही सोचना चाहिए कि मैं तृण, सर्दी, गर्मी, दशमशक या अन्य तर विविध प्रकार के परीषह सहन कर सकता हूं किन्तु मैं गुप्तांगो के आवरण को नहीं छोड सकता यदि ऐसा हो तो वह कटिबंधन धारण कर सकता है।

यदि अचेल भिक्षु अपने चरित्र मे दृढ़ रहता है और तृण, शीत, उष्ण, दशमशक या अन्य विविध प्रकार के परीषहो को सहन करता है लाघवता को प्राप्त करता है इसको भी भगवान ने तप कहा है और सर्वथा सर्वकाल समभाव रखे।

इसे जिनकल्पी साधुओ का आचरण बताया गया। इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी अचेल शब्द का अर्थ अल्प वस्त्र किया गया। अब तक के परिशीलन से जाहिर है कि श्वेताम्बर आगमो मे वस्त्ररहित साधु के अस्तित्व व समादर का वर्णन ही नही है उनके आचरण के नियम भी बनाए गये हैं।

(४) उत्तराध्ययन सूत्र[७] मे भिक्षु के लिए लिखा है कि—

एगया अचेलए होइ, सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी णो परिदेवए॥

अर्थात् कभी अचेलक होने पर तथा कभी सचेल होने पर दोनों ही अवस्थायें धर्म हित के लिए है ऐसा जानकर ज्ञानी खेद न करे।

अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सुयमाणस्स होज्जा गायविराहणा॥
आयवस्स निवाएणं, अतुला हवइ वेयणा।
एयं णच्चा न सेवंति तंतुजं तणतज्जिया॥

जब अचेलक रुक्ष संयमी तपस्वी तृण शय्या पर सोता है तो उसके गात्र की विराधना (क्षति) होगी तथा आतप होने पर अतुल वेदना होगी इस प्रकार तृणकदर्थित होने पर भी भिक्षु तन्तुज (वस्त्रादि को धारण नहीं करेगा।

उत्तराध्ययन सूत्र के ही त्रयोविंश (२३वे) अध्ययन मे केशी गौतम का परिसंवाद विस्तार से लिखा है जो इस प्रकार है—

केशी पार्श्वनाथ के शासन के शिष्य थे और गौतम थे शिष्य महावीर के। दोनो का एक समय श्रावस्ती नगरी मे अपने-अपने शिष्य समुदाय के साथ निवास हुआ—दोनों ही अचित्त घास की शय्या पर, केशी तिन्दुक नामक उद्यान मे तथा गौतम कोष्टक नामक उद्यान मे ठहरे थे—एक दिन भिक्षा के निमित्त उनके शिष्य निकले और आमना-सामना हुआ तो एक ही ध्येय होने तथा एक ही धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेश तथा साधु क्रियाओ मे अन्तर दिखाई देने से एक दूसरे के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ।

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।
एगकज्ज पवन्नाणं, विसेसे किनु कारणं॥

[अचेलकश्च यो धर्मो, यो सांतराणि एक कार्य प्रपन्नो विशेषे किंतु कारणं]

यह बात जब श्रमण गौतम तक पहुंची तो वे स्वयं केशी मुनि के उद्यान मे गए। केशी मुनि ने पूछा—

एग कज्जपवण्णाणं, विसेसे किं कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते।।२८।।
अचेलओ अ जो धम्मो जो इयो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी। ६।।
एकज्ज पवण्णाणं, विसेसे किंनु कारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विपच्चओ न ते?।। ०।।

हे मेधावी, एक कार्य प्रपन्न होते हुए भी धर्माचरण दो प्रकार का तथा लिंग भी दो प्रकार का अचेलक व सांतरोत्तर ऐसा क्यो? क्या इस विषय मे आपको शंका नही होती?

गौतम का उत्तर था कि हे महामुनि, समग्र का विज्ञान पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर तथा साधुओं के मानस को देखकर इस प्रकार भिन्न-भिन्न धर्म साधन रखने का विधान किया गया है, जैन साधुओं की पहचान के लिए ये नियम बनाए गये हैं, अन्यथा मोक्ष के साधन तो ज्ञान दर्शन चारित्र है।

इस सवाद से यह स्पष्ट है कि गौतम स्वामी अचेलक नग्न थे और केशि मुनि सचेल, किन्तु आगे चलकर इस विषय पर यो वृत्ति की गई कि सामान्य रीति नञ् समास का अर्थ नकारवाची अर्थात् अचेलक का अर्थ वस्त्ररहित—अवस्त्र ऐसा किया जा सकता है किन्तु महावीर ने वस्त्र की अपेक्षा वस्त्रजन्य मूर्छा को दूर करने पर विशेष जोर दिया इसलिए नञ समास के छह अर्थों मे से ईषत् (अल्प) यह अर्थ ही उचित है. परन्तु यदि ऐसा होता तो केशि मुनि कोई सशय न करते; इसके इलावा अचेलक का अर्थ ईषत् चेल मान लिया जाए तो फिर अहिंसा महाव्रत का अर्थ अल्प हिंसा, असत्यत्याग महाव्रत का अर्थ अल्प सत्य और अस्तेय का अर्थ अल्प स्तेय करना पड़ जाएगा। यदि अल्प वस्त्र और अधिक वस्त्र की ही समस्या होती तो केशि मुनि वस्त्रो की सख्या के बारे मे ही प्रश्न करते, इस कठिनाई को पहचानकर नेमिचन्द्राचार्य ने यह टीका की कि अचेलक धर्म वर्द्धमान स्वामी ने चलाया था, कारण यह है कि पार्श्वनाथ ने तो वस्त्र पहनने की अनुज्ञा दी थी किन्तु इसका अर्थ रगीन वस्त्र का निषेध न होने के कारण भिक्षुओं ने रगीन वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर महावीर भगवान ने वस्त्र का ही निषेध कर दिया।

इस संवाद और टीका के अध्ययन से यह नतीजा निकल रहा है कि दिगम्बरत्व सम्पूर्ण जैन शासन का एक विशिष्ट अंग रहा है किन्तु वस्त्रधारी श्रमणो ने अपना पक्ष सबल करने के लिए अचेलक शब्द का अर्थ ही अल्पवस्त्र कर डाला। जान पड़ता है यही से श्वेताम्बर परम्परा मे दिगम्बरत्व के विरोध की नीव डाल दी गई।

(५) ठाणं मे उल्लेख इस प्रकार है—

से जहाणामए अज्जो। मए समणाणं णिग्गथाण णग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए, अदन्तवणए, अच्छतए, अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघर पवेसे लद्धा वलद्ध वित्तीओ पण्णत्ताओ।

यह नग्न निर्ग्रंथो के आचार का स्पष्ट ही उल्लेख है।

(६) कल्पसूत्र मे भगवान महावीर की दीक्षा का वर्णन करते हुए बताया है कि—

उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीय ठावेइ, अहे सीयं ठावित्ता सीयाओ पच्चोरिहइ, सीयाओ मच्चोरिहित्ता सयमेव आभरणमल्लालंकार ओमुयति, ओमइत्ता सयमेव पचमुट्ठिय लोयं करेइ, करित्ता छट्ठेण भत्तेण अपाणएण हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेण जोगमुवागएण एग देवदूसमादाय एगे अबीए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगरिय पव्वइए।

समणे भगव महावीरे सवच्छरं साहिय मासं चीवरधारी होत्था तेण पर अचेलए पाणिपडिग्गहिए।

ज्ञातृ खण्डवन पहुंचकर अशोक वृक्ष के नीचे शिविका रखी गई, शिविका रखे जाने पर भगवान शिविका से उतरे, शिविका से उतर कर स्वय ने आभरण माला अलकार उतारे तथा उनके उतारने के बाद स्वय ने पचमुष्टि केश लोचन किया और पानी रहित छट्ठभक्त अर्थात् दो उपवास किये। हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग आने पर एक देवदूष्य को लेकर एकाकी हो मुंडित होकर, गृह त्याग कर अनगारत्व को स्वीकार किया।

श्रमण भगवान महावीर तेरह महीने तक चीवर धारी रहे उसके बाद अचेलक तथा करपात्री हो गये।

इस पर विनयगणि की टीका का सार इस प्रकार है

कि जब भगवान ने देवों द्वारा लाई गई शिविका से ज्ञातृ खण्डवन उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे उतरकर स्वयमेव आभरण माल्यालंकार उतार दिए और पचमुष्टि केश लोचन किया तत्पश्चात इन्द्र ने उनके वाम स्कंध पर एक देवदूष्य रखा जिसे लेकर अगार से अनगार हो गये, सामायिक में बैठे और उन्हे चतुर्थ ज्ञान हो गया—कुछ समय पश्चात् कोल्लाक सन्निवेश मे बहुल ब्राह्मण गृह मे यह कहकर कि मेरे द्वारा सपात्र धर्म प्रज्ञापनीय है गृहस्थ के पात्र में प्रथम पारणा किया तब पच दिव्य प्रादुर्भूत हुए (१) चेलोक्षेप, (२) गधोदकवृष्टि, (३) दुन्दुभिनाद, (४) अहोदान अहोदान ऐसी उद्घोषणा और (५) वसुधारावृष्टि। तदनतर अस्थिक ग्राम मे पाच अभिग्रह धारण किए - (१) नाप्रीतिमद्गृहेवास., ( ) स्थेयं प्रतिमया सदा, (३) न गेहिविनय. कार्य:, (४) मौनं, (५) पाणौ च भोजनम्।

वार्षिक दानावसर पर कोई दरिद्र परदेश गया हुआ था, लेकिन दुर्भाग्य से कुछ भी कमा कर नहीं ला सका तो उसकी भार्या ने उसे झिडका, अरे अभाग्य शेखर, जब वर्धमान मेघ की तरह स्वर्ण बरसा रहे थे तब तू विदेश चला गया और फिर निधन ही समागत हुआ। दूर हट, मुंह न दिखा, अब भी तू जगम कल्पतरू से भीख माग वही तेरा दारिद्र हरेगा—इस प्रकार अपनी पत्नी के ऐसे वाक्यो से प्रेरित होकर वह भगवान के पहुचा और प्रार्थना की कि प्रभु आप जगदुपकारी ने विश्व भर का दारिद्र्य निर्मूल कर दिया किन्तु निर्भाग्य से उस समय मैं यहां नहीं था, भ्रमण करते हुए भी मुझे कुछ मिला नही, निष्पुण्य, निराश्रय, निर्धन मै आप जगद्वाछित दायक की शरण मे आया हू विश्व दारिद्र्य को हरने वाले आपके लिए मेरी दारिद्रता कितनी सी है। इस प्रकार याचना करने वाले विप्र के प्रति करुणापरग भगवान ने आधा करके दव दूष्य दे दिया। विप्र उस ने गया और दशाचल के लिए तन्तुवाय को दिखाया और सारा व्यतिकर सुनाया तो वह बोला, हे ब्राह्मण, तू उन्ही प्रभु के पीछे जा वे निर्मम करुणाम्बोधि द्वितीय अर्ध भाग को भी दे देगे तब मैं दोनो आधे-आधे टुकडो को जोड दूंगा। इस प्रकार अक्षत होने पर इसका मूल्य एक लाख दीनार हो जाएगा। तब हम उस रकम को आधा आधा बांट लेंगे और हमारा दोनों का दारिद्र्य दूर हो जाएगा, तब पुन: प्रभु के पार्श्व मे आया किन्तु लज्जा के कारण कुछ कहने मे असमर्थ साल भर तक उनके पीछे-पीछे घूमता रहा। १३ महीने के बाद घूमते हुए भगवान् जब दक्षिण वाचालपुर के पास सुवर्णवालुका नदी तट पर आए तो कटको से उलझकर आधा देवदूष्य भी गिर गया। तब पिता के मित्र उस ब्राह्मण ने उसे उठा लिया और चल दिया। अत. भगवान् ने सवस्त्र धर्म प्ररूपण के लिए मासाधिक एक वर्ष तक वस्त्र को स्वीकार किया, सपात्र धर्म की स्थापना के लिए प्रथम पारणा मे पात्र का उपयोग किया, उसके बाद जीवन भर अचेलक पाणि पात्र रहे।

कल्पसूत्र के नवें क्षण मे जिनकल्पी व स्थविर कल्पी दोनो साधुओ के चरित्र के नियम दिए है।

कल्पसूत्र की विनय विजयगणि द्वारा कृत सुबोधिका वृत्ति का प्रारम्भ करते हुए लिखा गया है कि कल्प का अर्थ साधुओ का आचार है। उसके दस भेद हैं—(१) आचेलक्कु, (२) देसिअ, (३) सिज्जायर, (४) रायपिंड, (५) किइकमो, (६) वय, (७) जिट्ठ, (८) पडिक्कमणे, (९) मास, (१०) पज्जसवणकप्पे।

इनमे से अचेलक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि न विद्यते चेल यस्य स अचेलकस्तस्य भाव आचेलक्य विगतवस्त्रत्व इत्यर्थ. तच्च तीर्थंश्वरानाश्रित्य प्रथमातिने जिनयो शक्रोपनीत देवदूष्यापगमे सर्वदा अचेलकत्व किन्तु इसी ग्रन्थ कल्पसूत्र की किरणावली टीका मे यह लिखा है कि २४ तीर्थंकरो के शक्रोपनीत देवदूष्य के अपगम पर अचेलकत्व हो जाता है। विजयगणि ने इसको समझाते हुए लिखा कि अजित नाथ से लेकर २२ तीर्थंकरो के साधु समाज "बहुमूल्य विविध वर्ण वस्त्र परिभोगानुज्ञा सद्भावेन सचेलक व मेव केषांचिच्च श्वेतमावो पेत वस्त्र धारित्वेन अचेलकत्व अपि इति अनियत. तथा अय कल्प: श्री ऋषभवीर तीर्थ यतीना च सर्वेणा अपि श्वेतमानो पेत जीर्णप्रायवस्त्र धारित्वेन अचेलकत्व।"

वस्त्र परिभोग होने पर अचेलक कैसे होगा? इस शका का निराकरण यो कर दिया कि जीर्णप्राय तुच्छ वस्त्र के होने पर भी अवस्त्रत्व ऐसा जगत प्रसिद्ध है जैसे

लंगोटी लगाकर नदी पार करने पर भी कहते हैं कि नग्न होकर नदी पार की तथा दर्जी या धोबी से वस्त्र जल्दी लेने के लिए कहते हैं कि भाई, जल्दी दो हम तो नंगे हो रहे हैं—उसी प्रकार साधुओं के वस्त्र होते हुए भी अचेलकत्व जानना चाहिए।

उपरोक्त अवतरणों से साफ प्रकट है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी भगवान महावीर उस समय दिगम्बर थे जब उन्हें केवल ज्ञान हुआ और मुक्ति प्राप्त की। इन्हीं को ध्यान में रखकर सुखलाल जी सघवी ने[10] लिखा कि भगवान महावीर ने अपने शासन में दोनों दलो का स्थान निश्चित किया जो बिल्कुल नग्न जीवी व उत्कट विहारी थे और जो बिलकुल नग्न नही थे ऐसा मध्यममार्गी था। उन दोनों दलों के आचारों के विषय मे मतभेद रहा।

विचार करने से जान पड़ता है कि जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा मे तीन वस्त्र, दो वस्त्र, एक वस्त्र और अवस्त्र की मर्यादाएं रखी गई हैं, ठीक-ठीक वही मर्यादाए दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक, ऐलक, दिगम्बर मुनि के रूप मे प्रस्थापित की गई है। आगे चलकर यह भेद यों बढ़ा कि श्वेताम्बर परम्परा सवस्त्र मुक्ति मानती है जबकि दिगम्बर परम्परा दिगम्बर होने के बिना मुक्ति की कल्पना भी नही करती। इसका कारण शायद स्त्री मुक्ति की सम्भावना पर टिका है। दोनो ही परम्पराए स्त्री के लिए आवरण आवश्यक मानती हैं। अत: दिगम्बरत्व पर पूर्ण बल देने वाली परम्परा ने नारी मुक्ति का ही निषेध कर दिया जबकि श्वेताम्बर परम्परा ने सावरण स्त्री मुक्ति स्वीकार कर ली तो फिर सावरण पुरुष कीमुक्ति भी स्वीकार करनी पड़ी। जान पड़ता है नारी मुक्ति को लेकर ही दोनों परम्पराएं एक दूसरे से बहुत दूर चलती गईं।

दर असल बात यों है कि जब से भारतीय संस्कृति आत्मोन्मुखी या कहिए परमात्मोन्मुखी हुई तब से ही श्रमण उसकी आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। महावीर और बुद्ध के जमाने में और उससे पहले भी दिगम्बरत्व श्रामण्य का प्रतीक बन चुका था। कई श्रमण नग्न विहार करते थे। मक्खलि गोसाल नंगा रहता था। पूर्णकस्सप ने भी वस्त्र धारण करना इसलिए स्वीकार नहीं किया कि दिगम्बर रहने से ही मेरी प्रतिष्ठा रहेगी।[11] प्रसेनजित के कोषाध्यक्ष मृगांक के पुत्र पूर्ण वर्द्धन की स्त्री विशाखा ने कहा था कि भगवन् बरसात के दिनो मे वस्त्रहीन भिक्षुओ को बड़ा कष्ट होता है इसलिए मैं चाहती हू कि सघ को वस्त्र दान करूं।[12] यो देखा जाए तो हर धर्म मे यह श्रमण परम्परा अंशाधिक रूप मे पाई जाती है और भारत की श्रमण परम्परा मे नवीनता नही है, विशेषता अवश्य है; यह विशेषता है त्याग की और यही विशेषता जैन धर्म में और भी विशिष्ट हो गई है; जब श्रमण गृहत्याग करके अनगार हो जाता है तो फिर उस अवस्था को अवश्य पहुचेगा जब वस्त्र उसकी सिद्धि मे बाधक लगने लगेगा।

यही कारण है कि जैन धर्म के श्वेताम्बर आगम भी दिगम्बरत्व की विशेषता को अनदेखा नही कर सके और उसे कल्प का सर्व प्रथम रूप मानकर उसके बारे मे लिखा।

इस लेख से श्वेताम्बर समाज के उस वर्ग का प्रोत्साहित करना है जो दिगम्बरत्व के प्रति आदर भाव तथा समभाव रखने के अपने आगम आदेश को पूर्ण सम्मान देकर उसका पालन करे।

पाद-टिप्पण

८. अंग सुत्ताणि जैन विश्व भारती, लाडनूं भाग १, नवम ठाण, पृ० ८६१।

९. (a) कल्पसूत्र विनयगणि विरचित सुबोधिकावृत्ति, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१५, षष्ठ क्षण, सूत्र ११८, पाना १५७.
(b) कल्पसूत्र, प्राकृत भारती, जयपुर, सूत्र ११४-१५.
(c) Sacred books of the East-Jain Sutras p. I, Motilal Banarsidas, 2964, Kalp Sutra DP.

१०. सघवी सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र, भारत जैन महामण्डल, वर्धा परिचय पृ. २२-२३।

११. भदन्त बोधानन्द महास्थविर— भगवान गौतम बुद्ध, प्र० बुद्ध विहार, लखनऊ।

१२. डा० रमेशचन्द जैन, बौद्ध साहित्य मे निगण्ठो का उल्लेख, महावीर स्मारिका, राजस्थान जैन सभा, जयपुर १९९२, पृ. ३, ६ व ११।

(गतांक से आगे)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड का शुद्धिपत्र

[ब्र० रतनचंद मुख्तार द्वारा सम्पादित तथा शिवसागर ग्रंथमाला से प्रकाशित]

संशोधिका—१०५ आर्यिकारत्न विशालमति माता जी

[आ० क० विवेकसागर शिष्या]

तथा

—जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८२	७	तीर्थंकर समुद्घात केवली के देव-नारकी	तीर्थंकर समुद्घात केवली के औदारिक शरीर मिश्रकाल मे. देवनारकी
५८७	५	दुःस्वर उदय नही है,	दु स्वर का उदय नही है।
५८६	२६	ओर यशस्कीर्ति युगल की अपेक्षा [६×६×२×२×२] ५७६ भग है	यशस्कीर्ति और विहायोगति युगल की अपेक्षा [६×६×२×२×२×२] ५७६ भग हैं।
५८६	१६	विहायोगति रूप सुभग	विहायोगति, सुभग
५८६	२०	यशस्कीर्ति चार युगल	यशस्कीर्ति, ये चार युगल
५८८	१२	सर्व [१+१+८+८+१०+६+१+१७] ६० भंग	सर्व [१+१+८+८+८+१०+६+१+१७] ६० भंग हैं।
५६०	३	सुभग, सुस्वर, आदेय	सुभग, आदेय
५६१	२	६२०+१२+११७६+१७६०	६२०+१२+११७५+१७६०
५६३	१७-१८	आदेय और विहायोगति रूप पांच युगलो की अपेक्षा पाच युगलो की अपेक्षा……	आदेय और यशस्कीर्तिरूप पांच युगलों की अपेक्षा………
६०१	६	होती और शेष	होती है और शेष
६४६	१७	मिश्र व ३ २४, २३, २२, प्रकृतिक असयत मे मिश्र मे २४ प्रकृतिरूप ६ प्रकृतिक एव असयम मे २४, २३ व २२ प्रकृतिरूप	मिश्र व ३ २४, २३, २२ प्रकृति असंयत मे मिश्र मे २४ प्रकृति ६ प्रकृतिक रूप एव असयत मे २४, २३, २२ प्रकृतिरूप
६५५	संदृष्टि	गति उदय स्थानगत प्रकृति सख्या का विवरण मनुष्य २०, २१, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६ व १ प्रकृति	गति उदयस्थानगत प्रकृति संख्या का विवरण मनुष्य २०, २१, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६ व ८ प्रकृति
६५७	१५ संदृष्टि	कायमार्गणा सत्त्वस्थानगत त्रसकाय प्रकृति सख्या का विवरण ६३, ६२, ६१, ६०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७६, ७८, ७७, प्रकृतिक	कार्यमार्गणा सत्त्वस्थानगत त्रसकाय प्रकृति संख्या का विवरण ६३, ६२, ६१, ६०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७६, ७८, ७७, १० व ६ प्रकृतिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६१	२५	उदय और स्थान मनःपर्यय ज्ञानवत्	उदय और सत्त्वस्थान मनःपर्यय ज्ञानवत्
६६२	१६	मार्गणा — बन्धस्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण परिहार विशुद्धि — २८, ९, ३० व ३१	मार्गणा — बन्ध स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण परिहार विशुद्धि — २८, २९, ३०, ३१
६६४	१७	लेश्या मार्गणा — बन्ध स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण पीत लेश्या — २५, २६, २८, २९, ३०, व १ प्रकृतिक	लेश्या मार्गणा — बन्ध स्थानगत प्रकृति सख्या का विवरण पीत लेश्या — २५, २६, २८, २९, ३०, ३१
६६५	९.११	मार्गणा — उदय स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण भव्य — २१' २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, १० व ९ प्रकृतिक	मार्गणा — उभेय स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण भव्य — २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, ८ प्रकृति
६६५	९.११	सत्त्व स्थान संख्या — सत्त्व स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण ११ — ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७ प्रकृतिक	सत्त्व स्थान सख्या — सत्त्व स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण १३ — ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९ प्रकृतिक
६६७	११-१३ II नक्शे का III कोठा	बन्ध स्थान संख्या	बन्ध स्थान सख्या — बन्ध स्थान गत प्रकृति-संख्या का विवरण
६६७	११-१३ II नक्शे का V कोठा	उदय स्थान सख्या	उदय स्थान संख्या — उदय स्थान गत प्रकृति सख्या का विवरण
६६८	११-१३ II नक्शे का VII कोठा	सत्त्व स्थान सख्या	सत्त्व स्थान सख्या — सत्त्व स्थान गत प्रकृति संख्या का विवरण
६७५	३	९० प्रकृति का होता है	९० प्रकृति का सत्त्व होता है।
६८१	२४	उद्योत, आतप व उच्छ्वास सहित २६ प्रकृतिक	उद्योत या आताप सहित २६, अथवा उच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास सहित [तथा आताप उद्योत रहित] २६ प्रकृतिक [देखो—धवला ७/३५ से ३९ के आधार हर]
६९१	१३	८२ प्रकृतिक चार स्थान हैं। आधेय	८२ प्रकृति पाँच स्थान हैं। आधेय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६५	१७-२०	सत्त्व स्थान सत्त्व स्थान गत प्रकृति संख्या संख्या का विवरण	उदय स्थान उदय स्थान गत प्रकृति संख्या सख्या का विवरण
७१०	८	साम्परायिक ६ व ईर्यापथ आस्रव	साम्परायिक व ईर्यापथ आस्रव
७१२	२५	कामण काययोग	कार्माण काययोग
७२४	४	हाता है	होता है
७२४	१५	चार जगह ३ का	चार की जगह ३ का
७३४	१२	सव भंग	सर्व भंग
७३४	२४	हाते हैं	होते हैं
७३६	१७	३६०÷२४+१५ लब्ध आया	३६०÷२४=१५ लब्ध आया
७४०	४	अनुपम सुख किन्तु	अनुपम सुख है किन्तु
७४६	१७	युक्त, दोनो	युक्त, क्षय से युक्त दोनो
७५८	७	जीवत्व और इस प्रकार	जीवत्व और भव्यत्व इस प्रकार
७६१	३	एक एक सख्या रूप	एक-एक कम सख्या रूप
७७८	२५	गुणकार [१+४+५+३]	गुणकार [१+४+५+२]
७८४	१६	सद्धों मे	सिद्धों मे
७८६	१६	ये पाँच गुणकार रूप	ये छह गुणकार रूप
७८७	५	मिलाने से [१२×८+१४] ११० भंग होते हैं	[८×१२+१४]=११० भंग होते हैं।
७८७	४	*गुणा करने और*	*गुणा करके गुणनफल मे*
७८७	२७	और शेष २८ हैं	और क्षेप २८ है।
८००	६	गति, लिङ्ग व लेश्या रूप तीन है	गति, कषाय लिङ्ग व लेश्या रूप चार हैं।
८०१	४	प्रत्येक द १६	प्रत्येक पद १६
८०१	१४-२०	पण्णट्ठ प्रमाण	पण्णट्ठी प्रमाण
८०५	२६	अज्ञान के ४०९३	अज्ञान के ४०९६
८०७	१६	जीवत्व के १०६४	जीवत्व के १०२४
८२०	७	कारण सूत्र के	करण सूत्र के
८२१	२३	कारण सूत्र के	करण सूत्र के
८२१	अंतिम पंक्ति	चय धन का जोड़	पद धन
८२१	१२	पद गुणिव होदि	पदगणिद होदि

नोट :—पृष्ठ ८२२ में द्वितीय पंक्ति मे जो *"आदि चय"* शब्द है वह *'आदि धन'* अर्थ मे है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२६	२	इक्रम से	इस क्रम से
८३२	२७	शिखा से जालायं है	शिखा से जलाये हैं।
८३७	२१	अन्योन्याभ्यस्त ये छह	अन्योन्याभ्यस्त राशि ये छह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४३	१-२	निषेक भागाहार अर्थात् दो गुण हानि आयाम को	निषेक भागाहार मे से घटाकर एक गुण हानि आयाम को
८४५	१७	वर्ग शलाका से ५६ गुणी है	वर्ग शलाका के अर्द्धच्छेदों से ५६ गुणी है।
८४५	१	षष्ठम	षष्ठ
८४८	१३	पल्य के पंचम, छठा, सातवां वर्गमूल के	पल्य के चौथे, पांचवें, छठे वर्गमूल के
८४८	१५	पल्य के आठवें, ६वें, १०वें वर्गमूलों के	पल्य के ७वें, ८वें, ९वें वर्गमूलों के
८४८	१७-१८	पल्य की वर्गशलाका के प्रथम वर्ग के, द्वितीय वर्ग के	पल्य की वर्गशालाका के छठें, ७वें तथा ८वें वर्ग के
८४८	२३-२४	पल्य की वर्गशलाका के छठें, ७वें, ८वें वर्गों के	पल्य की वर्गशलाका के तथा उसके प्रथम वर्ग के व द्वितीय वर्गों के
८७२	१६	कर्नाटिक वृति	कर्णाटिक वृत्ति

प्रेषिका – आर्यिका विज्ञानमति

(पृष्ठ ६ का शेषांश)

३. वैहिदरीपुत्रेण आषाढ़सेनेन कारिते। (११)

अनुवाद—अहिच्छत्रा के राजा शोनकायन (शौनकायन) के पुत्र बंगपाल के पुत्र (और) तेवणी (अर्थात् तेवर्ण-राजकन्या) के पुत्र रानी भागवत के पुत्र (तथा वैहदरी) अर्थात् (वैहिदर राजकन्या) आषाढसेन ने बनवाई।

नोट—शुगकाल के अक्षरो से मिलने-जुलने के कारण दोनों शिलालेखों का काल विश्वास के साथ द्वितीय या प्रथम शताब्दी ई० पू० निश्चित किया जा सकता है। खास ऐतिहासिक चीज, जो यहां अंकित करने को है, वह अहिच्छत्रा के प्राचीन राजाओ की वंशावली है। अहिच्छत्रा किसी समय प्रतापी उत्तर पचाल राजाओं की राजधानी थी। वंशावली इस प्रकार है :—

शौनकायन
|
तेवणी (त्रैवर्ण राजकन्या) से विवाहित बंगपाल
|
वैहिदरी (वैहिदर राजकन्य) गोपाली से विवाहित राजा भागवत
|
गोपाली | राजा बृहस्पतिमित्र | आषाणसेन
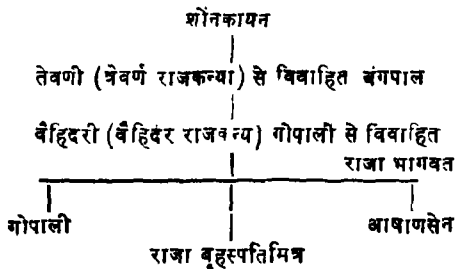
१४. बजनाथ शर्मा—हर्ष एण्ड हिज टाइम्स पृ. २१७।

१५. जैन हितैषी—भाग—११, अक ७-८, पृ. ४८२।

१६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, पृ. ३२६।

१७. नायाधम्मकहाओ १५/१५८।

१८. Life in ancient India as deficted in Jain canons P. 264-265.

२०. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला पृ. ३७६।

२१. भारतीय कला पृ. ३८३।

२२. The ancient Geography of India p. 303-6

२३. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ. १३-१४।

—: ० :—

केरल में जैन स्थापत्य और कला

श्री राज मल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

यह सहसा विश्वास नही होता कि केरल मे भी जैन स्थापत्य और कला सम्बन्धी कोई सामग्री हो सकती है। सामग्री तो है किन्तु वह एक तो अल्प है और कुछ मतभेद के घेरे मे है। इस विषय पर लिखना वास्तव मे एक कठिन कार्य है फिर भी कारणो और इस विषय पर लेखक की धारणा का औचित्य बताते हुए यथासम्भव युक्तिसगत विवरण देने का प्रयत्न किया जाएगा।

सबसे पहला कारण तो यह धारणा है कि केरल मे जैनधर्म का प्रादुर्भाव अधिक से अधिक भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण भारत मे आगमन के साथ हुआ होगा। एक तो यह धारणा उचित नहीं है कि इन मुनियों से पहले दक्षिण भारत मे जैनधर्म का अस्तित्व नही था। जो दि० जैन मुनियो की चर्या से परिचित है वे यह भली भाति समझ सकते हैं कि ४६ दोषो से रहित आहार ग्रहण करने वाले मुनि ऐसे प्रदेश मे विहार नही कर सकते है जहां विधिपूर्वक उन्हें आहार देने वाले गृहस्थ निवास न करते हों। फिर केवल दोनों हाथो की अजुलि को ही पात्र बना कर दिन मे केवल एक बार ही आहार ग्रहण करने वाले बारह हजार मुनियो के आहार के लिए जैनियों की बहुत बड़ी सख्या की विद्यमानता का आकलन उन मुनियो के नायक भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य ने अवश्य ही कर लिया होगा। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे इन मुनियों का विहार केवल तमिलनाडु और कर्नाटक मे ही हुआ था और केरल में वे नहीं पहुंचे थे यह विचार ही उचित नहीं जान पड़ता। उस समय तो केरल तमिलनाडु का ही एक भाग था और उसका स्वतंत्र अस्तित्व तो आठवी शताब्दी की बात है। मलयालम भाषा मे लिखित केरल के विशालकाय इतिहास ग्रन्थ केरलचरित्रम् मे यह स्वीकार किया गया है कि ब्राह्मी शिलालेखो के आधार पर यह स्पष्ट है कि केरल में जैनधर्म का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व की दूसरी सदी में हो चुका था। अत: इससे पूर्व भी केरल मे जैनधर्म का अस्तित्व मानना अनुचित नही जान पड़ता। जैन पुराण इस बात का कथन करते हैं कि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई और जैनो के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने जिन्होने गिरनार पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था, पल्लव देश को भी अपने धर्मोपदेश का क्षेत्र बनाया था। उनकी मूर्तियां और उनका उल्लेख करते हुए शिलालेख तमिलनाडु मे अधिक सख्या मे पाए गए हैं। वे उनकी लोकप्रियता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त, श्रीलका मे एक पर्वत का नाम भी उनके नाम पर अरिष्ट पर्वत था।

प्रश्न हो सकता है कि नेमिनाथ का विहार श्रीलंका मे कैसे हुआ होगा बीच मे तो समुद्र है। केरल मे यह अनुश्रुत है कि केरल की बहुत-सी धरती समुद्र निगल गया। कन्याकुमारी घाट से देखने पर अनेक चट्टानें समुद्र में से अपनी गर्दन बाहर निकालती आज भी दिखाई देती है जो इस बात का संकेत देती है कि केरल किसी समय श्रीलका से जुड़ा हुआ था। अरिष्टनेमि और अन्य जैन मुनि इसी रास्ते श्रीलका आते-जाते रहे होंगे। केरल का एक सपूर्ण गांव ही यादववंशी है और वह जैनधर्म का अनुयायी रहा है। पार्श्वनाथ (निर्वाण ई॰ पू॰ से ७७७ वर्ष पूर्व) की ऐतिहासिकता स्वीकार कर ली गई है और उनके प्रभाव को केरल में नागपूजा, पार्श्व मूर्तियों का पाया जाना, पद्मावती के मन्दिरों जो कि अब भगवती मन्दिर कहलाते हैं तथा नायर (नाग) जाति की प्रधानता आदि से सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। महावीर स्वामी के सबध मे अब यह मान लिया गया है कि कर्नाटक के एक राजा जीवधर ने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनका प्रभाव केरल तक अनुमानित किया जा सकता है। ये सब पौराणिक साक्ष्य एकदम मिथ्या नही कहे जा सकते। यदि ये सब कल्पित हैं तो अनेक देवताओं सम्बन्धी विवरण भी

असत्य माने जाएंगे। उनके संबंध में भी पक्का पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नही हुआ है। ऋग्वेद मे आर्यों और पणियो के सघर्ष का स्पष्ट सकेत है। ये लोग वेदों को नहीं मानते थे और कुछ विद्वान् यह मानते है कि पणि जाति उत्तर भारत से खिसकते-खिसकते केरल पहुची और वहां बस गई। उसने अरब देशों, रोम आदि से व्यापार किया। केरल का इतिहास उसके विदेशों से व्यापारिक सम्बन्धों से प्रारम्भ होता है किन्तु ये व्यापारी किस जाति के थे इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। किन्तु इतिहास तो अपनी कुछ न कुछ निशानी छोड़ता ही है। केरल की आदिवासी जातियां जैसे पणियान, कणियान, पाणन तथा पणिकर आदि एवं पन्नियकरा, पन्नियूर जैसे स्थान नाम और कुछ अन्य जातियो मे जैनत्व के चिह्न पणि या जैन धर्मावलम्बियो के प्राधान्य को सूचित करते हैं। इसका विश्लेषण प्रस्तुत लेखक ने अभी अप्रकाशित पुस्तक केरल मे जैनमतम् मे एक स्वतत्र अध्याय मे किया है। इस पृष्ठभूमि का उद्देश्य यह है कि केरल मे महापाषाणयुगीन (Megalithic) जो अवशेष पाए जाते है। उनका संबध जैनधर्म से जोड़ना अनुचित नही जान पड़ता।

एक अन्य कारण यह भी है कि जिन अजैन विद्वानो ने केरल मे जैनधर्म संबधी कार्य किया है, उन्हे जैन आख्यानों, प्रतीको आदि की समुचित जानकारी उपलब्ध नही थी ऐसा लगता है। शायद यही कारण है कि कुछ जैन अवशेषो आदि को बौद्ध समझ लिया गया है। जो भी हो, जैन अवशेषो आदि की खोज के लिए हम गोपीनाथ राव, कुजन पिळ्ळै आदि विद्वानों के बहुत ऋणी हैं। जिन अनुसंधानकर्ताओं ने केरल मे जैन अवशेषो की चर्चा भी की है, उन्होने उन मन्दिरो, मस्जिदो आदि की या तो समुचित समीक्षा नही की है या उन्हे बिल्कुल ही छोड़ दिया है जो किसी समय जैन थे। यह तथ्य मस्जिदो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से सही है। आखिर वे भी तो जैन स्थापत्य के नमूने हैं। ऐसी दस मस्जिदें इतिहासकारो ने खोज निकाली हैं।

यह भी एक सत्य है कि जैन पुरावशेषो का योजनापूर्वक वैज्ञानिक और विस्तृत अध्ययन ही नही हुआ है। शताधिक गुफाएँ ऐसी है जो अनुसधान की अपेक्षा रखती हैं। कुछ गुहा मन्दिर और मुनिमडा या कुडक्कल अब भी उपेक्षित हैं। किसी जैन विद्वान का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। इसी लेख में दिए कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाएगा।

केरल की भूमि पर्वती क्षेत्रों, मध्यभूमि और समुद्रतटीय भागो मे बँटी हुई है। परिणाम यह है कि घने जंगलो से आवृत कुछ अधिक ही ऊचे पहाडों पर स्थित गुफाओं, शैल मन्दिरो आदि का अध्ययन कठिन भी है। ऐसे जिन कुछ अवशेषो का अध्ययन हुआ है, वे जैनधर्म से सबधित पाए गए हैं।

तमिलनाडु की ही भांति केरल मे भी धार्मिक उथल-पुथल हुई। उसके कारण भी जैन स्मारको को क्षति पहुंची। अनेक जैन मन्दिर और पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती के मन्दिर शिव या विष्णु मन्दिरो के रूप मे या भगवती मन्दिरो के रूप मे परिवर्तित कर दिए गए। अब उन्हें कुछ प्रतीकों से ही कठिनाई से पहिचाना जा सकता है। अनेक शिलालेख या तो नष्ट हो गए हैं या अभी उनका समुचित अध्ययन ही नहीं हुआ है।

केरल मे राजनीतिक आक्रमणो के कारण न केवल जैन मन्दिरो को हानि पहुची अपितु वैदिक धारा के मदिर भी क्षतिग्रस्त हुए। इतिहासकारो का मत है कि सदियों से केरल के मन्दिरों के लिए आदर्श कुणवायिलकोट्टम् का प्रसिद्ध जैन मन्दिर हैदरअली के द्वारा की गई विनाशलीला का शिकार बना और उसका जो कुछ अस्तित्व बचा था उसे उन डच लोगो मे नष्ट कर दिया। गोआ में भी अनेक जैन मन्दिरो को क्षति पहुचाकर नष्ट कर दिया था। टीपू सुलतान ने भी जैन मन्दिरो को हानि पहुंचाई।

केरल मे जैन मन्दिरो की प्राचीनता आदि के सबध में एक कठिनाई वहाँ के जैन धर्मावलबियो के कारण भी उत्पन्न हो गई है। उन्होने प्राचीन मन्दिरो को गिराकर उनके स्थान पर सीमेंट कक्रीट के नए मन्दिर बना लिए हैं। अतः प्राचीनता के तार जोड़ना एक कठिन कार्य हो गया है।

उपर्युक्त कठिनाइयो और कारणों के होते हुए भी महापाषाणयुगीन (कुडक्कल, शैल-आश्रय) अवशेषो से लेकर आधुनिक युग के विद्युत और प्रकाश मंडित जैन

चैत्यालय (Mirror Temple) तक के जैन मन्दिरों आदि का कुछ विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जाएगा। जैन स्थापत्य के आदि रूप की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो यह तथ्य सामने आएगा कि जैनो ने शायद मन्दिरो से भी पहले चरणो (footprince) का निर्माण किया। इस बात की साक्षी उन बीस तीर्थंकरों के चरणचिह्नों से प्राप्त होती है जो कि बिहार मे पारसनाथ हिल या सम्मेद-शिखर पर उत्कीर्ण है। नेमिनाथ के चरण भी रैवतक या गिरनार पर्वत पर आज भी पूजे जाते है। केरल के अनेक मन्दिरो तथा पर्वतो पर भी चरणो का अचन पाया जाता है यद्यपि आज वे जैन नही रहे किन्तु उनका सम्बन्ध जैन-धर्म से सूचित होता है। इस प्रकार के मन्दिर है—कोडगल्लूर का भगवती मन्दिर, कोरडी का शास्ता मदिर, पालक्काड का एक शिव मन्दिर इत्यादि। तिरुनेल्ली पर्वत पर चरण जो कि अब राम के बताए जाते है। कालीकट जिले मे एक पहाडी पर चरण जिन्हे मुसलमान बाबा आदम के चरण मानते है और उसकी जूते निकाल कर वंदना करते है। इन सबमे प्रमुख चरण है विवेकानद शिला पर देवी के चरण। यहा यह उल्लेखनीय है कि वैदिक धारा के प्रभास पुराण मे यह प्रसग है कि आग्नीध्र की सतति परम्परा मे हुए भरत ने जो कि ऋषभदेव के पुत्र थे अपने आठ पुत्रो को आठ द्वीपों का राज्य दिया था और नौवें कुमारी द्वीप का राज्य अपनी पुत्री को दिया था। भारत के लिए कुमारी नाम तो नही चला किन्तु भारत के अन्तिम छोर का नाम कन्याकुमारी आज तक चला आ रहा है। केरल मे इस राजकुमारी की स्मृति मातृसत्तात्मक समाज के रूप मे या मरुमक्कतायम् उत्तरा-धिकार व्यवस्था के रूप मे जिसके अनुसार पिता की सम्पत्ति पुत्री का प्राप्त होती है, आज भी सुरक्षित जान पड़ती है। वैदिक परपरा मे चरण चिह्नो का प्रचलन नही के बराबर जान पड़ता है और बौद्ध तो स्तूपों की ओर उन्मुख है। इसलिए केरल मे ये चरण जैनधर्म के प्रसार की ओर इंगित करते हैं। श्रवणबेलगोल मे भी भद्रबाहु के चरण ही अंकित हैं।

केरल में जैन स्मारको के अध्ययन को दो भागों मे बांटा जा सकता है—(१) प्राकृतिक या महापाषाणयुगीन स्मारक जैसे गुफाएँ, गुहा मन्दिर कुडक्कल और टोपी-कल्लु आदि (२) निर्मित मंदिर (Structural temples).

केरल के इतिहास में महापाषाणयुगीन अवशेषो का विशेष महत्व हैं। डा० सांकलिया ने उनका समय ईसा से १००० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से ३०० वर्ष पूर्व तक बताया है। इस प्रकार की निर्मितियां हैं कुडक्कल और टोपी कल्लु तथा शैल-आश्रय (rock shelters) कुडक्कल एक प्रकार की बिना हेंडल की छतरी के आकार की रचना होती है। इसमे चार खड़े पत्थरो के ऊपर एक औधी शिला रख दी जाती थी। आदिवासी जन इन्हे मुनिमडा कहते हैं जिसका अर्थ होता है मुनियों की समाधि। इस प्रकार की मुनियो की समाधियां केरल मेअनेक स्थानो पर हैं। अरियन्नूर, तलिप्परब, मलप्पुरम्, आदि कुछ नाम यहा दिए गए हैं। इनकी सख्या काफी अधिक है। इनका भी ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है।

कुछ इतिहासकार यह कथन करते हैं कि केरल में जैन शैलाश्रयों का अभाव है। किन्तु यह कथन तथ्यों के विपरीत है। अरियन्नूर मे ऐसा ही एक शैलाश्रय देखा जा सकता है जो कि इस समय पुरातत्व विभाग के सरक्षण में है। यह भूमिगत है। वह लेटराइट चट्टान को खोद कर बनाया गया है। उसमें नीचे उतरने के लिए सीढिया हैं। उसमे पत्थर की तीन शय्या है जिनके उपर एक गोला-कार लगभग तीन फुट का एक रोशनदान भी हवा आने और वर्षा से बचाव के लिए बना हुआ है। तमिलनाडु मे इसी प्रकार की शिला शय्या पुगलूर नामक स्थान पर चेरकाप्पियन जैन साधु के लिए चेर शासक को आनन चेरल इरम्पोराइ के पौत्र ने बनवाई थी। उसका समय ईसा की दूसरी सदी माना जाता है। अतः केरल मे शैल शय्या का निर्माण इसमे बहुत प्रचलित मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

गुहा मन्दिरों की गणना भी महापाषाणयुगीन स्मारकों में की जाती है। प्राकृतिक गुफाओ मे आराध्य देव की स्थापना या उनसे संबधित चित्रण इनकी विशेषता मानी जाती है। इस प्रकार के दो जैन गुहा मन्दिर केरल में आज भी पूरे जैन साक्ष्य के साथ विद्यमान हैं यद्यपि अब वे भगवती मन्दिर कहलाते हैं। सबसे प्राचीन कल्लिल का

गुहा मन्दिर मालूम पड़ता है। उसमे पार्श्वनाथ, महावीर और पद्मावती देवी की मूर्तिया आज भी प्रतिष्ठित है। केवल पद्मावती देवी की मूर्ति पर पीतल मढ दिया गया है। कुछ इतिहासकार इसका समय आठवी सदी बताते हैं जो कि सही नही मालूम पडता है। उस समय तो जैनधर्म को क्षति पहुचना प्रारभ हो चुका था। इस गुफा की सामने से ही दूर से दिखाई पड़ने वाली चट्टान पर आले-नुमा रचना में एक पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमा अधूरी उकेरी गई मानी जाती है। इसकी कुछ तुलना तामिलनाडु मे कलगुमलै मे इसी प्रकार चट्टान मे बनाए गए आले मे उकेरी गई पद्मासन प्रतिमा से की जा सकती है। स्थानीय अजैन जनता यह विश्वास करती है कि रात्रि मे देवगण आकर इस प्रतिमा को सुडौल रूप देते है। शायद प्रतिमाओ के कारण कुछ इतिहासज्ञ इसे शैलाश्रय गलती से मार लिया गया है इस प्रकार की धारणा व्यक्त करते हैं। किन्तु यदि इसका सम्यक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि यही पर एक कोष्ठ के बराबर स्थान चट्टानों के ही कारण बन गया है जिसका उपयोग तपस्या-रत मुनियो द्वारा किया जाता रहा होगा। अत. इसे शैलाश्रय मानना उचित नही है।

अब तमिलनाडु के कन्याकुमारी जिले मे सम्मिलित तिरुच्चारणट्टमलै पर भी एक गुहा मन्दिर है। वह भी आजकल भगवती मन्दिर कहलाता है। उसमे पार्श्वनाथ, महावीर और पद्मावती देवी की मूर्तिया आज भी देखी जा सकती है। यह भी चट्टानों से निर्मित है यद्यपि इसके ऊपर जो शिखर है वह पतली ईंटो से बना है। इसके साथ की एक चट्टान पर लगभग तीस सौष्ठवपूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है। मूर्तियो और गुहा मन्दिर के दूसरी ओर की चट्टान पर आठवी और नौवी सदी के अनेक लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है कि तमिलनाडु के दूरस्थ प्रदेशो तक के भक्त यहा आते, दान करते थे तथा मूर्तिया आदि बनवाते थे। यह स्थान किसी समय पावापुरी के समान पवित्र माना जाता था। इतनी पवित्रता प्राप्त करने के लिए अनेक शताब्दियो का समय अवश्य लगा होगा। तेरहवी सदी मे इसका जैन स्वरूप नष्ट हो गया।

रॉबर्ट सेवेल द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार केरल मे गुफाओ की सख्या १६० है किन्तु पुरातत्व विभाग द्वारा किए गए एक अन्य सर्वेक्षण मे इनकी सख्या और भी अधिक होने की सम्भावना व्यक्त की गई है। ये गुफाए घने जगलो और ऊची पर्वत चोटियों पर है। सर्वेक्षक श्री वाय. डी. शर्मा ने अपनी रिपोर्ट मे पहले तो इनका वर्गीकरण वैदिक और बौद्ध गुफाओ के रूप मे किया किन्तु बाद मे उन्हें बौद्धो से भी असबधित इसलिए कर दिया कि उनमे बौद्ध पूजा वस्तुओ का अभाव है। फिर वे यह मत व्यक्त करते है कि अन्य साधु उनका उपयोग करते होगे। अन्य मे जैन साधुओ की सम्भवत गिनती की जा सकती है। आधार यह है कि वैदिक ऋषि आश्रम बना कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध भिक्षु सघाराम या विहारो मे रहते थे। जैन साधुओ के लिए वनो मे और पर्वतो पर तपस्या करने का विधान था। उन्हे केवल आहार के लिए नगर मे आना विहित था। भद्रबाहु और सिकन्दर जिन जैन साधुओ से मिलने स्वय गया था उससे स्पष्ट है कि गुफाओ मे तपस्या की जैन परपरा बहुत प्राचीन है। अतः केरल की अनेक गुफाओ का जैनधर्म से सबधित होना मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। इडप्पाल, पेरिंगलकुन्तु आदि गुफाए इस प्रकार के उदाहरण हैं। मलयालम लेखक श्री वालत्तु ने इन्हे ध्यान मन्दिर की सज्ञा दी है और अनेक जैन गुफाओ की ओर संकेत किया है।

केरल मे ही एक गुफा का नाम भ्रांतनपाड़ा है जिसका अर्थ है भ्रांत (पागल) लोगो की गुफा। यह गुफा अधूरी और शैव धर्म से सबधित बताई जाती है। आश्चर्य ही है यदि शैव लोगो को पागल कहा गया हो। श्रीवालत्तु का कथन है कि यह जैन गुफा है। इस प्रकार के नाम का एक प्रयोग आंध्र प्रदेश मे भी पाया गया है। वहा गांव के एक भाग का नाम दानवलपाडु (जिसमे जैनों का निवास था) और दूसरे भाग का नाम देवलपाडु (जिसमे ब्राह्मण निवास करते थे) था। इसलिए इस नाम पर कोई आश्चर्य नही। शायद इसी बात को ध्यान मे रखते हुए केरल गजेटियर के सपादक ने लिखा है, "The megalithic habitation sites should be studied more intensively to know more about the

cultural sequence and matetial content." वास्तव मे, यदि खोज की जाए तो जैनधर्म सबधी अनेक स्थल प्रकाश मे आ सकेंगे।

अब गुफाओ से निकल कर मन्दिरो की ओर।

यह कहा जाता है कि केरल मे जैन निर्मित मन्दिरो का अस्तित्व नही पाया जाता। किन्तु यह कथन भी उचित नही जान पडता। केरल मे जैन मन्दिर होने का सकेत इलगो अडिगल के तमिल महाकाव्य शिलप्पादि-से मिलता है। इसमे जैन श्राविका कण्णगी और कोवलन की दु खभरी कथा वर्णित है। अडिगल (आचार्य) युवराज पाद थे किन्तु अपने बडे भाई के पक्ष मे राज्य का त्याग कर सन्यासी हो गए थे। वे चेर राजधानी कञ्जी के किले के पूर्वी द्वार के समीप स्थित कुणवायिलकोट्टम् नामक जैन मन्दिर मे रहा करते थे। इस मन्दिर को 'पुरनिलै कोट्टम्' अर्थात् पुर के बाहर का मन्दिर कहा जाने लगा और इससे बाद क शिव मन्दिरो को 'ऊरकोट्टम्' या पुर के अन्दर का मन्दिर कहा जाने लगा। यह मन्दिर केरल के अन्य मन्दिरो का नियत्रण करता था और केरल म मन्दिरो क निर्माण के लिए आदर्श था ऐसा चार-पाच मन्दिरो के शिलालेखो से ज्ञात होता है। इसका उल्लेख केरल के अनेक काव्यो विशेषकर सन्देश काव्यो यथा कोक सन्देश, शुक सन्देश आदि मे भी उपलब्ध है। इसे तृक्कणा-मतिलकम् भी कहा जाता था। चौदहवीं सदी तक यह जैन मन्दिर रहा ऐसा इतिहासकार मानते है। उसके बाद इसका प्रबन्ध नायर लोगो के हाथों मे चला गया। कालातर मे इसे हैदरअली और डच लोगो ने नष्ट कर दिया। सन् ७० मे जो खुदाई की गई थी उसमें किले की दीवार और एक मध्ययुगीन (आठवी नौवी सदी) मन्दिर की नीव के चिह्न पाए गए है (प्रो० नारायणन) प्रो० नारायणन ने इस मन्दिर का निर्माण आठवी सदी मे माना है और इसके प्रमाण मे वे किणालूर के जैन मन्दिर के एक शिलालेख का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा न कर केवल इतना ही यहां कहना उचित होगा कि इस शिलालेख का पाठ केरल उन्हीं का किया हुआ है। उन्होने कुणयनल्लूर (Kunayanallur) को कुणवाय-नल्लूर पढ़ लिया है। यहां भ्रांति हुई इस लगता है। वैसे त्रिचूर जिले मे एक निरुवलयनल्लूर भी है। इस कारण इस मन्दिर का निर्माण ८७० ईस्वी के बाद हुआ और शिलप्पादिकारम् की रचना किसी ने इलगो अडिकल के नाम से कर दी ऐसा निष्कर्ष उन्होने निकाला है किन्तु एक निष्पक्ष इतिहासकार की भाँति उन्होंने साहित्यिक एव अन्य साक्ष्य के लिए गुंजाइश छोड दी है। खेद है कि इस सबध मे कार्य नही हुआ। प्रो० चम्पकलक्ष्मी इस मत से सहमत नही है। उनका मत है कि आठवी सदी मे तो जैनधर्म को कठिन धार्मिक सघर्ष से गुजरना पडा था। उस समय ऐसे आदर्श मदिर का निमाण सभव दिखाई नही देता।

इलगो अडिकल के बड़े भाई चेर शासक चेन कुट्टुवन (१२५ ईस्वी) ने कण्णगी की प्रतिमा स्थापित करन के लिए एक मन्दिर बनवाया था जिसके उत्सव मे लका का शासक गजबाहु और मालवा का राजा भी सम्मिलित हुआ था। उस समय जैन धर्मावलम्बी भद्र चष्टन मालवा का शासक था। उसका राज्य पूना तक फैला हुआ था और उसने मालवाधिपति की उपाधि धारण की थी। लका मे दूसरा गजबाहु बारहवी सदी मे हुआ है। इसलिए इलगो की रचना ईसा की दूसरी सदी की है यह स्वीकार किया जा सकता है। यह मन्दिर या कम से कम उसका भाग आज भी कोडगललूर मे विद्यमान है यद्यपि उसका अनेक बार जीर्णोद्धार हुआ है ऐसा जान पडता है। आजकल वह भगवती मन्दिर कहलाता है। उस पर अधिकार करने के समय जो कुछ हुआ होगा उसकी पुनरावृत्ति प्रति वर्ष भरणी उत्सव के रूप मे की जाती है ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। उस समय अश्लील गाने, गाली-गलौज, मन्दिर को अपवित्र किया जाना आदि का दौर रहता है। हाल ही मे केरल सरकार ने कुछ अकुश लगाया है। साथ ही जीवित मुर्गे मंदिर पर फेंकना भी सरकार ने बद करा दिया है। कहा जाता है कि देवी को अश्लील गाने और गालिया आदि पसद है।

उपर्युक्त मन्दिर चौकोर द्रविड़ शैली का विमान है। ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित उसकी दीवारों पर बाहर की ओर दीप आधार की दो-तीन पक्तियां पूरी दीवाल में बनी हुई है जिनके कारण उत्सव के समय दीपो की अद्भुत छटा

उपस्थित होती होगी। देवी के एक हाथ मे पुस्तक सी लगती है किन्तु वीणा नही है। छोटे आकार के चरणभी स्थापित हैं, सफेद चवर भी लटके दृष्टिगत होते हैं। पुजारी आज भी अडिगल कहलाते है। एक विशेष तथ्य यह है कि इस मन्दिर मे एक भूमिगत (underground secret chamber) है किन्तु उसमे क्या है यह कोई नही जानता। श्री इडुचूडन ने इसी विषय पर अपनी बृहत् पुस्तक मे यह मत व्यक्त किया है कि उसमे कण्णगी के अवशेष हो सकते है। यदि ऐसा होता तो इतनी रहस्यात्मकता की शायद आवश्यकता नही होती। प्रस्तुत लेखक का अनुमान है कि उसमे प्राचीन जैन प्रतिमाएँ हो सकती है शायद इसी कारण उसे कभी खोला नहीं जाता था उनके साथ सर्प आदि के द्वारा रक्षा आदि की कोई घटना जुडी हुई है जिसके कारण यह कोष्ठ भयप्रद बना हुआ है।

कोडंगल्लूर मे ही केरल की सबसे प्राचीन मस्जिद बताई जाती है। लोगन्स के अनुसार वह किसी समय एक जैन मन्दिर था। अब केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक द्वितल विमान था। इरिंजालकुडा मे कूडलमाणिक्यम् नामक एक विशाल मन्दिर है। वह चेर शासको के समय मे निर्मित अनुमानित किया जाता है। यह एक द्वितल विमान या मन्दिर है। इसका अधिष्ठान पाषाण का है किन्तु उसके ऊपर की दीवाले लकडी की है। इसमे एक काट्टम्बलम् या नृत्य सगीत के लिए एक मंडप भी है जिसकी आकृति एक अधखुली छतरः जैसी है। इसका गोपुर काफी ऊचा है। मन्दिर के साथ ही एक अभिषेक सरोवर या टेप्पकुलम् है। इसका जल केवल अभिषेक के लिए ही उपयोग मे लाया जा सकता है। यहा प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप स्थाणुरवि नामक शासक का एक शिलालेख नौवी सदी का है। इसमें भरत की एक मूर्ति है जिसके दर्शन की अनुमति महिलाओं को नहीं थी। केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार श्रीधर मेनन का कथन है—"According to some scholars the Kudalmanikkam temple ay Irinjakuda, dedicated to Bharata, the brother of Sri Rama, was once a Jain shrine and it was converted in to a Hindu temple, during the period of the decline of Jainism It is argued that the deity originally installed in the kudalmanikkam temple is a Jain Digambar in all probability Bharateswara, the same saint whose statute exists at Sravanbelgala in Mysore" भरत बाहुबलि के बड़े भाई थे यह इस कथन मे शायद छूट गया है।

त्रिचूर मे वडक्कुन्नाथ नामक एक मन्दिर है। वडक्कुन्नाथ का अर्थ है उत्तर के देवता का मन्दिर। वह एक सर्वतोभद्र विमान है जिसमे चार द्वार होते हैं किन्तु अब इसमें केवल तीन द्वार ही रह गए हैं। यह गोलाकार है और एक कम ऊंची पहाडी पर स्थित है जिसे वृषभादि कहते है। इसमे जैनो को अत्यन्त प्रिय कमल और पत्रावलि का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके परिक्रमा पथ मे अनेक मूर्तिया हैं। मुख्य मन्दिर से जुडा ऋषभ मडप भी है जिसमे जनेऊ धारण करके और ताली बजाकर प्रवेश करना होता है इसके परिसर मे कुछ अन्य छोटे मदिर भी हैं। इसके चार गोपुर है। पिछले गोपुर मे जैनो को प्रिय परस्पर बैरी जीव का चित्रण भी है। इसके नौ शिलालेखों में से चार नष्ट हो गए है। इस कारण इसके इतिहास का ठीक-ठीक पता नही लगता। इसके नाम और अकन आदि से ऐसा लगता है कि यह मूल रूप मे जैन मन्दिर था। श्री वालत् के अनुसार इस मन्दिर ने तीन युग देखे हैं—१. आदि द्रविड काल, २. जैन सस्कृति युग और ३. शैव वैष्णव युग जो अभी चल रहा है। स्पष्ट लगता है कि यह ऋषभ देव का मन्दिर था।

कोझिक्कोड मे एक तृक्कोविल है। यह श्वेतांबर मदिर है। कहा जाता है कि लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व गुजराती जैनो को जामोरिन ने इसलिए दिया था कि वे पर्यूषण के दिनो मे वापस गुजरात न जावे और यही अपना पर्व मना लिया करें। मदिर प्राचीन है किन्तु उसका भी जीर्णोद्धार हुआ है। उसका अधिष्ठान ग्रेनाइट पाषाण का है और छत ढलवां है। कलिकुड पार्श्वनाथ के नाम से भी जाने जानेवाले इस मदिर के मूलनायक पार्श्व के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी हैं जिनम अजितनाथ की ध्यानावस्था प्रतिमा का अलकरण विशेष रूप से आकर्षित करता है। उनके मस्तक के पास हाथी, देवियो और यक्ष यक्षणी की लघु आकृतियां है। गर्भगृह के मुख्य द्वार पर कांच का

विशेष काम है विशेषकर नेमिनाथ की बारात का। इसकी छत लकडी की है। इसी मंदिर से जुडा आदीश्वर स्वामी मंदिर भी है। उसके गर्भगृह के बाहर ऋषभदेव के यक्ष गोमुख और यक्षिणी चक्रेश्वरी देवी, लक्ष्मी और अन्य देवियो का भव्य उत्कीर्णन काले पाषाण पर किया गया है। इसकी दूसरी मंजिल पर वासुपूज्य स्वामी और अन्य देवियो का भव्य उत्कीर्णन काले पाषाण पर किया गया है। इसकी दूसरी मंजिल पर वासुपूज्य स्वामी और अन्य प्रतिमाएँ जैन प्रतीको सहित स्थापित हैं। मन्दिर से बाहर एक कोष्ठ मे कमल पर ऋषभदेव के चरण है। एक अन्य कक्ष मे कांच पर शत्रुंजय तीर्थ प्रदर्शित है।

बंगर मजेश्वर मे एक चौमुखा या चतुर्मुख मन्दिर है जिसमे चारो दिशाओ मे चार तीर्थंकर प्रतिमाएँ स्थापित हैं। ये तीर्थंकर है—आदिनाथ, तीर्थनाथ, चन्द्रनाथ और वर्धमान स्वामी। मन्दिर छोटा है। उसका भी जीर्णोद्धार हुआ है। वैसे यह सालहवी सदी का बताया जाता है। यह अब भी पूजा स्थान है।

केरल के कण्णोर वायनाड मे मानदवाडी मे एक आदीश्वर स्वामी मन्दिर है जो मौर्ययुगीन था ऐसा बताया जाता है किन्तु उसे गिराकर नया मन्दिर बना लिया गया है। उसकी स्मृति मे एक पाषाण सुरक्षित रखा गया है जिस पर एक नर्तकी का धुंधला-सा अकन दिखाई देता है। स्थानीय विश्वास मिथ्या भी नही दिखाई देता क्योंकि मन्दिर की ओर जाते समय ही पाषाण की क्रमशः ऊँची होती चली गई परतें स्पष्ट दिखाई देती है। वह २००० वर्ष प्राचीन बताया जाता है। वर्तमान मन्दिर में ऋषभदेव की लगभग तीन फुट ऊची प्रतिमा मूलनायक के रूप में है। उसमे तांबे का रत्नत्रय, पीतल का नंदीश्वर आदि हैं।

सुलतान बत्तारी वह स्थान है जहां टीपू सुलतान की फौज की छावनी थी। यहा एक जैन मन्दिर ध्वस्त अवस्था में है जो लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। इसके ऊपरी भाग पर पेड़ पौधे उग आए है। उसके अनेक स्तम्भों पर तीर्थंकर मूर्तिया उत्कीर्ण है। नागपाश भी देखे जा सकते हैं। उसके गर्भगृह मे अब कोई मूर्ति नही है किन्तु बताया जाता है कि करीब सौ वर्ष पूर्व केवल एक पुजारी रह गया था। वह गुजारा नहीं होने के कारण इस मन्दिर को पुरातत्व विभाग को सौंपकर चला गया। इसकी रचना मे दो फीट के लगभग मोटी शिलाओ का प्रयोग किया गया जान पडता है जिसकी तुलना हम्पी के गणिगित्ति मन्दिर की रचना से की जा सकती है। वह निश्चय ही प्राचीन मन्दिर है।

पालुकुन्नु (दूध का पहाड़) नामक स्थान पर लगभग दो हजार वर्ष पूर्व महावीर जैसी घटना की एक अनुश्रुति प्रचलित है। चौकी और ग्रेनाइट के पाषाण प्राकार से यहां के मन्दिर की प्राचीनता का आभास अवश्य होता है अब उसके ऊपर का भाग साधारण मकान जैसा लगता है जिस पर अब मंगलौर टाइल्स की छत है। इसका महत्व टीपू सुलतान के कारण है। टीपू ने मन्दिर को नष्ट कर दिया और लगभग ६ फीट ऊची मूर्ति के चार खंड हो गए। उसे नदी मे प्रवाहित कर दिया गया। पुरातत्व विभाग ने उसके एक खंड को निकाल कर कोझिक्कोड संग्रहालय मे रख दिया है। प्रस्तुत लेखक को सप्त फणमंडित पीतल की एक छोटी पार्श्व मूर्ति दिखाई गई जिसके दो फणो को टीपू सुलतान के आक्रमण के समय नष्ट कर दिया गया था। यहा नवग्रह, नागफण यक्ष आदि भी प्रदर्शित है। मन्दिर पार्श्वनाथ का है।

हाल ही मे पुलियारमला मे एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया है जो कि अनंतनाथ को समर्पित है। इसकी मुंडेर पर वीणावादिनी सरस्वती, ब्रह्मदेव और सरस्वती की लगभग चार फीट ऊची प्रतिमाए स्थापित हैं। मन्दिर म श्रुतस्कध, धर्मचक्र, पद्मावती देवी एव फणमंडित पार्श्वनाथ, अनंतनाथ, आदीश्वर स्वामी और पचपरमेष्ठी की मूर्तियां आदि विराजमान की गई है। बाहरी प्रकोष्ठ मे प्राकृतिक दृश्यो का भी मोहक चित्रण है।

इस जिले के एक काफी फार्म गृह में रत्नत्रय विलास नामक एक भवन है। उसमे एक चैत्यालय में पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी की सुन्दर मूर्तिया है। इसके ध्यान कक्ष मे विद्युत और दर्पण की सहायता से विभिन्न कोणो और हरे, पीले, लाल और सफेद रगो के बल्बो तथा ट्यूबलाइट का प्रकाश डालकर अनत प्रतिमाए स्वर्ण,

रजत, माणिक्य एवं स्फटिक स्वरूप मे दिखाई जाती है। इसे पिछले पैंतीस वर्षों मे हजारो लोगो ने देखा है। इसकी गणना केरल के पर्यटक स्थल के रूप मे की जाती है किन्तु खेद है कि कुछ शरारती लोगो के कारण इसका प्रदर्शन बन्द कर दिया गया है। इसे (Mirror temple) कहा जाता है।

पालक्ककाड मे एक चन्द्रप्रभ मन्दिर है जो पूरा का पूरा ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित है। वह एक हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन बताया जाता है। कम अलकरण और यहा से नौवीं-दसवी की प्रतिमा की प्राप्ति स इसकी पुष्टि होती है। इसका भी अनेक बार जीर्णोद्धार हुआ है। मन्दिर प्रदक्षिणा पथ है और पादपीठ पर चन्द्रप्रभु का लांछन उत्कीर्ण है। इसके सामने एक चबूतरा है जिसे किसी मन्दिर का अधिष्ठान पुरातत्वविदो ने माना है। इसी मन्दिर से कुछ दूरी पर मुतुपट्टणम् (मोतियों का बाजार) था। वहा जैनियो की अच्छी आबादी थी। जब जामोरिन ने यहा के शासक पर आक्रमण किया तब उसन हैदरअली को अपनी सहायता क लिए बुलाया। जैन लोग धर्म परिवर्तन के भय से यह स्थान छोडकर अन्यत्र चल गए। उसके बाद जब टीपू सुलतान ने इस नगर पर आक्रमण किया तब उसने मन्दिर को तुडवा कर उसकी ग्रेनाइट सामग्री का उपयोग यहां किला बनवाने मे किया। आज भी किले मे गजलक्ष्मी, देवकुलिकाओ के शिखर जैसी रचनाए, कमल, मीनयुगल आदि देखे जा सकते है। मन्दिर का ध्वस्त अधिष्ठान अभी भी है।

आलप्पी मे एक भव्य देरासर का निर्माण पच्चीस लाख की लागत से किया जा रहा है जो कि जनवरी ९३ मे पूर्ण होना था।

मट्टानचेरी मे धर्मनाथ जिनालय मे धर्मनाथ, पार्श्वनाथ, वासुपूज्य और महावीर की मूर्तियां हैं। प्रवेश द्वार पर लक्ष्मी का अभिषेक करते गज प्रदर्शित हैं। इस मंदिर का भी जीर्णोद्धार हुआ है। इसके साथ ही चन्द्रप्रभु जिनालय है। इसमे काच पर सम्मेदशिखर और शत्रुजय के चित्र केरल के ही कलाकारो से बनवाए गए है। एक छोटे से मन्दिर मे शातिनाथ की अतिशयपूर्ण प्रतिमा है जिसका अतिशय आसपास के क्षेत्रों मे यहां तक कि ईसाइयो में भी मान्य बताया जाता है।

नागरकोवित का नागराज मन्दिर सोलहवी शताब्दी तक जैन मन्दिर था यह बात पुरातत्वविदों ने त्रावणकोर महाराजा भूतल वीर मार्तण्ड के शिलालेखो के आधार पर स्वीकार कर ली है। डा० के. के. पिल्लै ने यह मत व्यक्त किया है कि यह मन्दिर ईसा की छठी शताब्दी मे निर्मित हुआ होगा क्योंकि वह समय केरल मे जैनधर्म के लिए अत्यन्त गौरवशाली था। इस मत को ह्वेनसाग के इस विवरण से भी समर्थन मिलता है कि सातवी सदी मे जब उसने भारत की यात्रा की थी तब उसने कोट्टा मे अधिक सख्या मे दिगम्बर साधुओ को विचरण करते पाया था। कोट्टा इस समय नागरकोविल मे समा गया है। नागराज मन्दिर के कुछ स्तम्भो पर पार्श्वनाथ, महावीर और पद्मावती देवी की मूर्तिया आज भी देखी जा सकती है। इसके प्रवेश द्वार पर लगभग चार फीट ऊची आधी मानव आकृति मे धरणेन्द्र और पद्मावती हैं। प्रवेश द्वार के फर्श पर साष्टांग प्रणाम करती एक महिला मूर्ति भी जडी हुई है। इस मन्दिर के गर्भगृह पर छत नही है। प्रतिवर्ष घास-फूस की नई छत डाली जाती है। कही ऐसा तो नही हुआ कि मन्दिर को क्षति पहुंचाने का प्रयत्न हुआ हो और शासन देवी या देवता का कोई चमत्कार हुआ हो। यह भी उल्लेखनीय है कि इस मन्दिर में पार्श्वनाथ की पीतल की मूर्ति आज भी विष्णु के रूप मे पूजी जाती है। लेखक ने उसे स्वय देखा है और करलचरित्रम् मे भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है। पुरातत्वविद यह मानते हैं कि करल के मन्दिरो पर जैन स्थापत्य का भी प्रभाव है। इस सम्बन्ध मे केरल के स्मारको के विद्वान श्री सरकार ने एट्टूमन्नूर के शिव मन्दिर के विषय में लिखा है—"It is a sarvatobhadra temple with four openings. In other words, the plan simulates the chaturmukha shrines of the Jain tradition. That is why the linga in the centre can be viewed from all the directions." लोगन्स ने तो यहा तक लिखा है कि मस्जिदो की निर्माण शैली पर भी जैन प्रभाव है। (शेष पृ० २९ पर)

जिनागमों का संपादन

□ श्री जौहरीमल पारख

प्राचीन अर्द्धमागधी के नाम पर वैयाकरणो द्वारा पाठो के "शुद्धिकरण" की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है उसकी स्वागत-समीक्षा कई जैन पत्रिकाओं मे छपी है। डॉ० के० ऋषभचन्द्रजी जैन अहमदाबाद वालो ने इस नई दिशा मे मेहनत की है जिसके बारे मे पडितो के अभिप्रायो के प्रशसात्मक अशों का प्रचार भी हो रहा है जो आज की फैशन व परम्परागत के अनुकूल ही है। नमूने के तौर पर आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय के प्रथम उद्देशक का नव सपादित पाठ भी प्रसारित किया गया है।

उस बारे मे यह लेख है कि प्रारम्भ से आगम पाठ मौखिक रूप मे ही गुरुशिष्य परम्परा से चलते रहे। चूकि आगम पाठो की शुद्धता पूर्वाचार्यों की दृष्टि मे अत्यन्त महत्त्व रखती थी अत समय-समय पर वाचनाये व सगतियें होती थी जिनम सख्याबद्ध बहुश्रुत आगमधारक श्रमण मिलकर अपनी-अपनी याददास्त को ताजा व सही करते रहते थे। किन्तु बाद मे स्मरण शक्ति के ह्रास व स्वाध्याय शिक्षणादि अन्य कारणो से आगमो को लिखने व नोट करने की छुटपुट प्रथा भी चल पडी, यद्यपि मुख्यत: गुरुमुख से प्राप्त पाठ का ही प्रचलन था और वही शुद्धतर माना जाता था। कालान्तर मे आगम धरो की निरन्तर घटती सख्या को देखते हुए जब आगम-विच्छेद जैसा ही खतरा दिखाई देने लगा तो पाठ सुरक्षा के लिए आज से लगभग १६०० वर्ष पूर्व गुजरात (सौराष्ट्र) के वल्लभीपुर नामक शहर में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (अपरनाम देववाचक) की अध्यक्षता मे आगम वाचना हुई। उस अवसर पर आगम-धारक आचार्यों/उपाध्यायो को गुरु परम्परा से प्राप्त पाठ व व्यक्तिगत छुटमुट प्राप्त पोथियों के व्यापक आधार पर समस्त उपलब्ध आगमों को लेखबद्ध किया गया और वही पाठ आज समूचे श्वेताम्बर जैन समाज में मान्य है।

आजीविका चलाने वाले लहिये और श्रमण-श्रमणियां व प्रबुद्ध श्रावक-श्राविकाये भी इन उपरोक्त लिखित आगमो की प्रतिलिपिया करते रहते थे। पहले भोजपत्र व ताड़पत्र पर और बाद मे कागज का चलन हो जाने पर कागज पर आगम लिखे जाते रहे। ऐसी प्रतिया सैकडो हजारो की सख्या मे, देश-विदेश के भण्डारो व यत्र-तत्र, अन्यत्र भी मिलती हैं जिनमे कई तो हजार-आठ सौ वर्ष से भी अधिक पुरानी है। वर्तमान मे आगमधर गुरु से परम्परा मे प्राप्त पाठ का प्राय: अभाव हो जाने से, आगम के असली पाठ निर्धारण मे ये प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया (जिन्हे आदर्श की सज्ञा दी जाती है) ही हमारा एक मात्र आधार रह गई है और इसीलिए आगम-संपादन की यह मान्य प्रथा है कि बिना आदर्श मे उपलब्ध हुए कोई भी पाठ स्वीकार न किया जाय।

इस दृष्टि से डॉ० चन्द्रा द्वारा संपादित प्रथम उद्देशक का विश्लेषण करते हैं तो सलग्न सूची के अनुसार महावीर जैन विद्यालय संस्करण (जिसे उन्होने आदर्श ग्रन्थ/प्रति के रूप मे प्रयुक्त किया है) के पाठ को ६४ जगहो पर शब्दो मे भेद किया है। ५ शब्द भेद छठे सूत्र मे 'यश्रुति, तश्रुति, उदवृत्तस्वर' आधार पर और जोड़े जा सकते है जैसा कि उन्होने दूसरे सूत्र मे (सूची क्रम सख्या ४८-९, ५२-४) मे किये है (सभवत: छठे सूत्र मे ये भेद करना चाहते हुए भी नजर चूक से वे भूल गए लगते हैं)। इस प्रकार पाठ भेद वाले शब्दो की सख्या ६६ पर पहुच जायगी और १७ शब्दो मे (सूची क्रम संख्या १,३,६,३१,३२,३६,४०,५०, ५१,५५,५६,६५,६७,७६,८३,८७,९०) तो दो दो पाठ भेद है अत: कुल पाठ भेद ११६ गिनाये जा सकते हैं। लेकिन इतने सारे पाठ भेदो में केवल ७ भेद ही (सूची क्रम सख्या ६,४८,४९,५२,५३,५४ व ५७) आदर्श सम्मत हैं। बाकी के सब भेद आदर्शों पर आधारित न होने के कारण अमान्य

ठहरते हैं। डॉ० साहब कष्ट उठाकर भण्डारो में जाते. प्राचीन प्रतियो का अध्ययन करते और उसी सूत्र मे उसी स्थल पर इनके द्वारा सुझाया गया पाठ उपलब्ध है ऐसा बताते तब तो कुछ आधार बनता, वरना इनका पाठ गले नही उतरेगा।

असल आगम पाठ क्या है ? बस इसका ही निर्धारण करे। आपकी राय मे क्या होना चाहिए या हो सकता है यह अनधिकार चेष्टा है। वास्तव मे पाश्चात्य जगत् से आई 'सपादन' नाम से पहिचाने जाने वाली प्रक्रिया आगमो पर लागू ही नही होती है क्योकि न तो हम सर्वज्ञ है न गणधर और न आगमधर स्थविर है (निर्युक्ति व चूणिकार ने तो थेर शब्द का अर्थ भी गणधर ही किया है—(देखे द्वितीय स्कन्ध का प्रारभ) अन्य आगमो मे या स्वय आचाराङ्ग मे अन्यत्र अमुक पाठ मिलता है इसलिए यहा भी वैसा ही पाठ होना चाहिए, इस तर्क में कोई बल नही है— यह दुतरफा है। इसके अतिरिक्त यह कोई नियम नही है कि एक व्यक्ति सदैव एक सरीखा ही बोलता है। श्रोताओ की भिन्नता, स्थल की भिन्नता आदि कारणवश अथवा बिना कारण भी, हम गद्य पद्य छंद मात्रा अलकार, कभी लोक तो कभी लोग, कभी पानी तो कभी जल, कभी प्रज्ञापना तो कभी पण्णवण्णा, कभी किवा तो कभी अथवा, कभी कागज तो कभी कागद, कभी भगवती तो कभी व्याख्याप्रज्ञप्ति, कभी प्रत्याख्यान तो कभी पच्चक्खाण, कभी छापा तो कभी अखबार, कभी सुमरा तो कभी हुमरा, कभी मै तो कभी हम, कभी प्रतिक्रमण तो कभी पडिक्कमणा, कभी रजिस्ट्री तो कभी पजीकरण बोलते है। अर्थात् हमारी बोली मे और विशेषतः सतत विहारी साधु वर्ग मे श्रुतिवैविध्य, शब्दवैविध्य (पर्यायवाची) और भाषा वैविध्य (अन्य भाषा के शब्द) होता है।

डॉ० चन्द्रा ने ३८ भेद (यकार/उदवृत्तस्वर करके) ७ भेद (ग का क करके) ३ भेद (ह का घ करके) २ भेद (ड्ढ का द्ध करके) १ भेद (य का च करके) और १ भेद (य का ज करके) कुल ५२ भेद श्रुति आधारित किए है जिनमे केवल ६ आदर्श सम्मत है (जो उपरोक्त ७ की सख्या में समाविष्ट कर लिए गए है)। हमारा यह कहना नही है कि आगमो मे 'त' श्रुति नही है; पर आदर्शों मे जिस स्थल पर वह मिलती है वहीं ली जा सकती है—सर्वत्र नही। महावीर जैन विद्यालय के सस्करण मे आगमोदय समिति सस्करण की अपेक्षा 'त' श्रुति की भरमार है परन्तु एक भी जगह बिना आदर्श का आधार लिए नही है। विडम्बना यह है कि डॉ० चन्द्रा ने अपने सारे निष्कर्ष बिना असल प्रतियो के देखे केवल छपी पुस्तको—द्वितीय स्तर की साक्ष्य (Secondary evidence) के आधार पर निकाले है जिन्हें प्रायः साधारण अदालत भी नही मानती है। यदि वे गहराई मे जाते तो अपना मामला मजबूत कर सके होते।

अर्द्धमागधी भाषा के प्राचीन रूप का तर्क भी शक्तिहीन है। भगवान् ने तीर्थ की प्ररूपणा की थी, न कि अर्द्धमागधी भाषा की। वह भाषा तो उनसे पूर्व भी प्रचलित थी—उनसे भी बहुत पुरानी है। भाषावली की कठोर सीमा रेखाए नही खेची जा सकती है तथा एक प्रदेश व एक युग मे सभी व्यक्ति एक-सी ही भाषा व्यापरते हैं यह सिद्धान्त भी नही बनता है। भिन्न-भिन्न जातियो की, शहरो व गावो की, अनपढ़ व पण्डितों की बोलियो मे अन्तर होता है—पारिभाषिक शब्दावली भी अपनी-अपनी अलग होती है। आज २१वी सदी मे भी मारवाड़ी लोगो की बहियो व आपसी पत्र व्यवहार की भाषा व शैली १८वी शताब्दी से मेल खाती है और इसी कारण जैन समाज यह कदापि स्वीकार करने वाला नही है कि बौद्ध ग्रन्थो या अशोक के शिलालेखो मे प्रयुक्त भाषा हमारे आदर्शों की अपेक्षा अधिक माननीय है एव जैनागमो मे अपना ली जानी चाहिए। हा आगमो का अर्थ समझने मे भले ही उनकी सहायता ली जाए किन्तु पण्डितो से हमेशा हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेलसेल का वही पाठ हमे प्रदान करे जो तीर्थंकरो ने अर्थ रूप से प्ररूपित और गणधरो ने सूत्ररूप से सकलित किया था। हमारे लिए वही सर्वथा शुद्ध है। सर्वज्ञो को जिस अक्षर शब्द पद वाक्य या भाषा का प्रयोग अभीष्ट था वह सूचित कर गए—अब उसमे कोई असर्वज्ञ फेरबदल नही कर सकता। उसकी अपेक्षा अक्षर व्यजन मात्रा भी गलत, कम या अधिक बोलने पर ज्ञानाचार को अतिचार लगता है—प्रतिक्रमण मे प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

रही बात व्याकरण की, सो व्याकरण गणित की तरह एक ऋत विज्ञान (Exact Science) तो है नही कि जहां दो व दो चार ही होते हों। व्याकरण के प्रायः सभी नियम अपने-अपने अनुमान व अधूरे पोथी ज्ञान के बल पर बनाए गए हैं, उन्हें पूर्णता की संज्ञा नही दी जा सकती। वैयाकरण, निष्णान्त (experts) होते हैं और सब या अधिक की बात छोड़िए, दो निष्णान्त भी एकमत नही होते हैं। और तो और, वर्षों की बहस के बाद भी जैनो के मूल मन्त्र नवकार मे "न" शुद्ध है या "ण" शुद्ध है इसका निर्णय वैयाकरण नही कर पाए हैं जबकि डॉ० चन्दा ने प्रस्तुत उद्देशक मे ३५ पाठ भेद केवल "ण" को 'न' मे बदल करके किए हैं जिनमे एक भी आदर्श सम्मत नही है।

साथ मे हमे यह नही भूलना है कि व्याकरण तो मच पर बहुत बाद मे आती है। व्याकरण के नियम रचित साहित्य पर आधारित होते हैं—शास्त्रों व अन्य ग्रन्थों में हुए प्रयोगो के अनुसार पन्डितो द्वारा पीछे से घडे जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे यह कहना कि आगमकारो ने व्याकरण की अवहेलना की है किंवा आगम-रचना व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हुई है, उतना ही हास्यास्पद है जितना कि यह कहना कि हमारे दादों, पडदादो ने हमारे पोतो पड़पोतो का अनुकरण नही किया।

थोडी देर के लिए यह मान भी ले कि सभी व्याकरण डा० चन्द्रा से एकमत हैं और यह भी मान ले कि भगवान् महावीर की तीर्थ-प्ररूपणा से पूर्व डा० चन्द्रा की यह नियमावली दृढ़तापूर्वक प्रभाव मे थी तो भी हमारा कथन है कि आगम इतनी उच्चकोटि की सत्ता व अधिकारिक स्तर लिए हुए है कि बेचारी व्याकरण की वहा तक पहुच ही नही है। सर्वज्ञों के वचन व्याकरण के अधिकार क्षेत्र से परे व बहुत-बहुत ऊचे है। पाणिनी का व्याकरण वेदो पर लागू नही होता अर्थात् आर्ष प्रयोग के अपवाद सर्व-मान्य हैं। स्टूडियो मे निदेशक जैसे एक्टर (अभिनेता) को अथवा छड़ीधारी अध्यापक जैसे छात्र को कहता है कि 'तू ऐसा बोल' वैसा मुंह में भाषा ठूंसने का अधिकार वैया-करण को नही है कि तीर्थंकर व गणधरो को कहे कि आपको इस प्रकार बोलना चाहिए था! इसे आप वैया-करणो का दुर्भाग्य मानें या जनता का सौभाग्य कि ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवान् ने तीर्थ की प्ररूपणा पण्डितों की भाषा मे नही की—वे लोकभाषा मे बोले ताकि आम प्रजा आप्त वचनों को सरलतापूर्वक सही रूप मे समझ सके। प्रस्तुत उद्देशक मे ७ भेद विभक्ति परिवर्तन करके, २ भेद अनुस्वार का लोप करके और १ भेद ए का लोप करके व्याकरण की दृष्टि से १० पाठ भेद किए गए हैं। जिनमे केवल एक भेद ही आदर्श सम्मत है जो ऊपर गिनाया जा चुका है।

अतएव व्याकरण के पण्डितो से हमारा अनुरोध है कि ज्ञानी (जो वैयाकरण नही होता है) व पण्डित के बीच इस भारी फर्क को समझे और अपने व्याकरण ज्ञान को सामान्य शास्त्रो, ग्रन्थो व अन्य साहित्य तक ही सीमित रखें—आगमो पर थोपने की कोशिश न करे। तिस पर भी उन्हे आप्त वचनो मे भाषाई या व्याकरणीय दोष असहनीय रूप से खटकते हो तो "समरथ को नहीं दोष गुसाईं" इस चौपाई मे सन्तोष मना लें। प्रोफेसर घाटगे ने अपने अभिप्राय मे ठीक ही लिखा है कि ऐसे प्रयासो का उपयोग शब्दकोष बनाने मे लिया जाएगा कि उपलब्ध पाठो मे प्राचीनतम पाठ कौनसा है। मुनि श्री जम्बूविजय जी ने भी अपने अभिप्राय मे लिखा है—"मे उपर-उपर थी तमारु पुस्तक जोयु छे। अनुनासिक-परसवर्ण वाला पाठो प्रायः MSS मा मलता जा नथी एटेल ञ ङ् वगेरे वाला पाठो मारायी अपनायनहि, यमारो एक सिद्धान्त छे के MSS मां होय तेज पाठ आपवो।" लेखक ने भी जैसल-मेर, पूना, काठमण्डू, जोधपुर, बाडमेर, जयपुर आदि भंडारों की हजारो प्राचीन प्रतियो का अवलोकन, सूची-करण व प्रतिलिपिकरण किया है पर प्राकृत ग्रन्थों मे परसवर्ण अनुनासिक लिखने की पद्धति का अभाव ही पाया है—अनुस्वार मे ही काम चलाया गया है। लेकिन डा० चन्द्रा ने इस पद्धति को अपना कर प्रस्तुत उद्देशक में १६ स्थानों पर पाठभेद खड़े किए हैं जिनमे से एक भी आदर्श सम्मत नही हैं।

यहा पर यह भी उल्लेखनीय है कि कुल ११६ पाठ भेदो मे केवल १ 'आउसतण' को छोडकर शेष ११५ पाठ भेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ मे कोई फर्क नहीं पडता। और आउसतेण (कही अनुस्वार सहित है कही रहित) इस पाठ

को सबने विकल्प में स्वीकार किया ही है और चूर्णिकार, वृत्तिकार आदि ने इसकी व्याख्या की ही है। तो फिर इस पाण्डित्य प्रदर्शन का लाभ क्या? पहाड खोजने पर चूहा भी नहीं निकला ऐसा कहा जा सकता है।

डा० के इस प्रयत्न को, जैनागमों के संशोधन व संपादन प्रक्रिया को नयी दिशा का बोध देने वाला बनाया गया है। नवीनता का शौक सबको— बूढ़ों को भी होता है, लेकिन कृपा कर आगमो को इस मानसिक चंचलता का शिकार न होने दें। आगमों का सशोधन या सपादन के बहाने पुनर्लेखन जैसी वस्तु हर प्रकार से अक्षम्य है— मनमानी का पथ प्रशस्त करने वाली सिद्ध हो सकती है। हमारे आगम पुराने है और उनके लिए पुरानी दृष्टि ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह आगम युग के समीपस्थ है। लाख-लाख धर्मानुयायी इन पाठो को पवित्र मत्र समझते हैं, श्रद्धापूर्वक कठस्थ व नित्य पारायण करते है। भाषा विज्ञान के चौखटे मे फिट करने के लिए प्राचीन आदर्शो में उपलब्ध एव सदियो से प्रचलित पाठों मे कांट-छांट करने से सामान्यजन की आस्था हिलती है, उनमे बुद्धिभेद पनपता है और उनकी भावनाओं को ठेस भी पहुंचती है। अतः आत्मनिरीक्षण करें कि जो कार्य आप श्रुत सेवा व निर्जरा का कारण समझकर कर रहे हैं वह कहीं आश्रव व कर्मों का बन्धन तो नहीं है। याद रखें कि गलत ग्रन्थ ग्रन्थकार की अपकीर्ति को चिरस्थायी कर देता है। और अन्त में होगा यह कि गुडगांव व राजकोट (अहमदाबाद) से छपे आगमों की तरह आपका संस्करण भी बहिष्कृत कर दिया जाएगा। हमारा मन्तव्य यह नही है कि प्रतिलिपि करने में भूलचूक अस्वाभाविक है, लेकिन आदर्शों का मिलान कर सर्वसम्मति से उनका परिष्करण बिल्कुल सम्भव है —आदर्शों से हटने की कतई आवश्यकता नहीं है। भूलो का परिमार्जन तो हिसाब, कानून आदि मे सर्वत्र होता ही है क्योंकि वस्तुत. भूल अस्तित्वहीन है, नही (Nullity) गिनी जाती है। किन्तु जहा, भूल हुई हो ऐसा कहा नही जा सकता, वहा भूल सुधार की ओट लेकर आगमपाठो मे घुसपैठ करना अनुचित है। आदर्शविहीन इस भाषाविज्ञान की दृष्टि से आगम संशोधन का विरोध होना चाहिए।

(तुलसी प्रज्ञा से साभार)

सम्पादकीय टिप्पण—श्री जौहरीमल पारख ने आर्ष भाषा के सरक्षण की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने का पुण्य कार्य किया है। श्वेताम्बर आगमों को ही क्यों? कुछ विज्ञों ने तो दिगम्बर आगमों की भाषा को भ्रष्ट तक घोषित कर वर्षों पूर्व से—आगा-पीछा सोचे बिना, उन्हें बाद के निर्मित (पश्चाद्वर्ती) व्याकरण से बांध, शुद्धि-करण का नाटक रच रखा है और हम किसी भी बदलाव का बराबर विरोध करते रहे हैं। पर, इस अर्थ-प्रधान समाज में कुछ कहना 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' जैसा हो रहा है फिर भी हमारे आँसू पोंछने के लिए हमें निवेदन मिले हैं कि हम ही आगम शुद्ध कर दें। पर, हम ऐसी दुश्चेष्टा, जिससे मूल-आगम भाषा का लोप होने की परम्परा चालू करने का प्रारम्भ होने को बल मिले और आगम लुप्त हों तथा अल्पज्ञों को यह कहने का अवसर मिले कि वे सर्वज्ञों की परम्परागत वाणी को भी शुद्ध करने जैसा श्रेय पा सके हैं के सदा विरोधी हैं।

इस संदर्भ में हम श्री पारख जी के हम-सफर हैं। उनकी इस जागरुकता के लिए उन्हें बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि समाज भाषा को समझ या न समझे पर, इतना तो अवश्य ही समझेगा कि उसके आगम जैसे, जिस रूप में हैं, सही हैं—'नान्यथावादिनो जिनाः।'

—संपादक

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में प्राप्त कुछ पत्र

(१)

मान्य भाई सा० प्रेमचन्द जी, (अहिंसा मन्दिर)

जय जिनेन्द्र ! उस दिन दिल्ली मे आपसे भेंट के समय अनायास आ० कुन्दकुन्द कृत समयसार के भिन्न-संस्करणो और सस्था विशेष द्वारा प्रकाशित सस्करण में शौरसेनी व्याकरण के नियमों को आधार बनाकर पाठ-निर्माणविषयक विवाद पर भी कुछ चर्चा हुई। यह विवाद अत्यन्त खेदजनक है।

मैं 'अनेकान्त' का पाठक हूं। इस सम्बन्ध मे जिज्ञासा वश अनेकान्त के भिन्न-भिन्न अको मे एतद्विषयक अको को पुनः पढा। इस विवाद के केन्द्र मे 'समयसार' का जो सस्करण है उसके श्रद्धास्पद 'सम्य-प्रमुख' अथवा सशोधन-प्रमुख के 'मुन्नुडि (पुरोवाक्) सहित ग्रन्थ और उसके पाठो को भी ध्यान से देखा।

प्रसगतः मैं यह कहना उचित समझता हूं कि मैंने दस-वर्षों तक लगातार स्वर्गीय डा० हीरालाल जी तथा डा० आ. ने. उपाध्ये के मार्गदर्शन मे सपादन कार्य सीखने/करने का अनुभव प्राप्त किया है। डा० उपाध्ये द्वारा सपादित प्रवचनसार को वर्षों तक पढा/पढाया है। तथा प्राचीन पवित्र ग्रन्थो के सम्पादन के मान्य सिद्धान्तों का सम्यक् परिचय प्राप्त किया है। मेरे द्वारा संपादित 'जंबूसामिचरिउ' भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित है। उसे सपादन की दृष्टि से देखा जा सकता है।

'पुरोवाक्' मे 'समयसार' या (समयसारो) के श्रद्धेय संशोधन-प्रमुख ने पाठ संपादन के जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे संस्कृत भाषा में लिखे किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में सम्भवतः उचित हो सकते थे, पर वह भी नियमतः नहीं। क्योंकि संस्कृत के कई प्रख्यात महाकवियों 'अपाणिनीय' अर्थात् पाणिनी कृत अष्टाध्यायी के नियमों के विरुद्ध प्रयोग किये हैं। इसी कारण यह उक्ति प्रचलित हुई, "निरंकुशाः कावय." कवि निरकुश होते हैं। परन्तु उन महाकवियो की कालजयी रचनाओं में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग उनके दोष नहीं, उनकी विशेषता बन गये हैं।

कवि कभी भाषा के नियमों से नियंत्रित नहीं होता अपितु वह तो स्वयं भाषा का नियामक/निर्माता होता है, भाषा व्याकरण के नियमों से नियन्त्रित नहीं होती, अपितु उसका नियामक तो लोक-व्यवहार या लोक-जिह्वा हुआ करती है। भाषा के सम्बन्ध मे सामान्य नियम यह है कि किसी भाषा के लोक-प्रचलित रूप से उसके व्याकरण का निर्माण होता है न कि व्याकरण सामने रखकर भाषा का। यद्यपि पूर्णतः नहीं, परन्तु बहुत अशो मे सस्कृत एक ऐसी संस्कार की हुई कृत्रिम भाषा है। इसी कारण सस्कृत एक विद्वद्भोग्य भाषा बनकर रह गयी। वह कभी लोकभाषा नही बन सकी।

ऐसी कृत्रिमता से बचने और अपने-अपने सिद्धान्तो को सुगम व सुबोध बनाये रखने के लिए ही भ० महावीर, महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियो ने अपने उपदेश अति-विचारपूर्वक संस्कृत मे न देकर लोकभाषा प्राकृत में दिये। वे जहां-जहां धर्मप्रचार के लिए गये, उनकी वाणी में प्रादेशिक भिन्नताएं आना न केवल स्वाभाविक अपितु अनिवार्य भी था। इस कारण निश्चय/व्यवहार नयों के अलग-अलग महत्त्व सिद्ध करने के लिए उन्हें उच्चस्वर से यह घोषित करने मे रंचमात्र भी सकोच न हुआ कि जिस प्रकार किसी अनार्य (म्लेच्छ) को उसकी भाषा (बोली) का आश्रय लिए बिना समझाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार 'व्यवहार' के बिना 'निश्चय' का उपदेश करना अशक्य है।

ऐसे उन स्वसंवेदी, अध्यात्मरस मे विभोर रहस्यवादी संतों से आग्रहपूर्वक यह अपेक्षा और ऐसी स्थापना करना कि "वे न केवल छन्द और व्याकरण अपितु भाषा-शास्त्र (जिसका इतिहास कुल दो सौ वर्षों का है) के भी पण्डित

थे, और उन्होने प्रत्येक शब्द भाषा-रचना और छन्दशुद्धि आदि तथा भाषाशास्त्र के सभी नियमों को ध्यान मे रखकर अपनी जगद्वद्य रचनाओं का प्रणयन किया।" इसके सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? वे कवि और भाषाविद् होने के कारण 'सत' नही अपितु 'सत' होने के कारण कवि थे। काव्य उनकी प्रयत्नपूर्वक की गयी रचना नही, ये तो उनके उद्गार हैं, जो काव्य के रूप मे प्रगट हुए।

और फिर कभी प्राकृत के कवियो और लेखको ने तो कभी व्याकरण के नियमो को ध्यान मे रखकर अपनी रचनाओ का प्रणयन किया ही नही। उनकी रचनाओ को देखकर विभिन्न प्राकृतो के नियमोपनियमों का निर्माण किया गया है। प्राकृतें जन-बोलियां थी और उनमे क्षेत्रीय रूपो का होना—यथा होदि, भोदि, होई, भोइ, हवइ, भवइ ही स्वाभाविक था। ऐसे भेदो का न होना सर्वथा अस्वाभाविक होता। प्राकृतो की यह बहु-रूपात्मकता ही उनका प्राण, उनकी आत्मा और उनकी सुन्दरता है। इन रचनाओ को व्याकरण के जड़-कटहरे मे बलात् बाधना तो इनके प्राणहरण करने के समान होगी। और फिर यह भी कौन नही जानता कि प्राचीन गाथा' छन्द के कितने भेद-प्रभेद रहे हैं। उनमे कही एकाध मात्रा कम, कही अधिक यह बहुत साधारण बात है। ऐसे छन्द दोषो को तो उच्चारण मे लघु को दीर्घ व दीर्घ को लघु करके ही ठीक कर लिया जाता है।

और यह भी कि प्राचीन कृतियो मे व्याकरणशुद्धि, छन्दशुद्धि या अर्थशुद्धि आदि किसी भी कारण से सपादक को किसी एक मूल-प्रति यदि वह सर्वशुद्ध और प्राचीन सिद्ध होती हो, तभी और केवल तभी उसे आदर्श मानकर, फिर उसमे जो भी शब्दरूप प्राप्त होते हो, उन्हें स्वीकार करके; अथवा अनेक भिन्न प्रतियो मे से पाठो का चयन करके, जिस पाठ को मूलरचना मे स्वीकार किया जाय, उसके अतिरिक्त शेष सभी पाठो को निरपवाद रूप से पादटिप्पण मे देने का अकाट्य सिद्धान्त है। फिर वे पाठ छन्द, व्याकरण अर्थ और सपादक की रूचि के चाहे जितने अनुकूल हो या सर्वथा प्रतिकूल, सपादक को अपनी ओर से पाठ-परिवर्तन करने का कथमपि अधिकार नही है। जो जो भी कहना हो, वह अपना अभिमत या सुझाव पाद टिप्पण मे दे सकता है। और प्राकृत ग्रन्थों में तो विशेष रूप से किसी भी सिद्धान्त को मानकर पाठो को एकरूप बनाना तो सरासर प्राकृत की सुन्दरता, स्वाभाविकता को समाप्त कर देना है जो संपादन के सर्वमान्य सिद्धान्तो के सर्वथा विरुद्ध है।

एक उदाहरण देकर मैं अपनी बात और स्पष्ट करना चाहूंगा। प्राकृत के प्रसिद्ध सट्टक 'कर्पूरमञ्जरी' की अनेक प्रतियां सामने होने पर भी डा० स्टेन कोनो ने 'पद्य मे महाराष्ट्री और गद्य मे शौरसेनी' का प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि महाराष्ट्री 'अधिक मधुर होती है' शौरसेनी उसकी अपेक्षा कम मधुर' इस उक्ति को आधार मान कर इसी सिद्धान्त पर बलपूर्वक 'कपूरमञ्जरी' का अत्यन्त श्रमपूर्वक एक सस्करण तैयार करके प्रकाशित किया। वह संस्करण (उपलब्ध) विद्वानों द्वारा पूर्णतया अमान्य कर दिया गया। तब स्व० डा० मनमोहन घोष ने 'कर्पूरमञ्जरी' का एक नया सस्करण प्रस्तुत किया जिसमे गद्य-पद्य दोनो मे शौरसेनी का ही प्रयोग है तथा वह कर्पूरमञ्जरी का श्रेष्ठ सस्करण है।

अन्त मे एक बात और! विभिन्न प्राकृतो के बीच कोई कठोर भेदक/विभाजक नियम नही थे। अत: महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, शौरसेनी, जैन शौरसेनी आदि नाम थोड़ी-थोड़ी विशेषताओ के कारण रखे गये। जिन्हे किसी भाषा/व्याकरणीय भाषा शास्त्रविद् ने माना और किसी ने नही।

अत: आगमो के सपादन मे पाठों की व्याकरण या छन्दशुद्धि महत्त्वपूर्ण नही, उनकी स्वाभाविकता, सहज अर्थ-बोधकता और विविधता, जो कि उनका वास्तविक-सौन्दर्य है, महत्त्वपूर्ण है।

अत: सम्बद्ध पक्षो से मेरा अतिविनम्र/करबद्ध निवेदन है कि आग्रह छोड़कर आगम में प्राकृत का प्राकृतपन विनम्र/सरलभाव से सुरक्षित रहने दें।

यह अवांछनीय विवाद अविलब समाप्त हो इसी सदाकांक्षा और हार्दिक सद्भावना के साथ।

आपका स्नेहाकांक्षी

(डॉ०) विमल प्रकाश जैन

(रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर)

(२)

आदरणीय पं० पद्मचन्द्र जी शास्त्री, (सम्पादक अनेकान्त)
प्रणाम !

स्व० परमपूज्य गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के बाद आप ही एक ऐसे सजग एवं शाश्वत प्रहरी हैं, जो संकटग्रस्त मूल जिनवाणी की रक्षा कर रहे हैं। वास्तव मे आप्ताभिमान-दग्ध तथाकथित विद्वान मूल ग्रन्थों की भाषा के परिमार्जन करने के बहाने उसे विकृत कर देते हैं। ऐसी घिनौनी प्रवृति का डटकर मुकाबला करना चाहिए और यथा सम्भव एक सम्मेलन भी बुलाकर इस विषय मे कार्यकारी निर्णय लेना चाहिए।

आजतक अनेक मान्य मनीषियों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया है लेकिन किसी ने मूल ग्रन्थ की भाषा को शुद्ध करके विकृत नही किया है। यह बात दूसरी है कि जिस बात से हम सहमत न हो उसे पाद-टिप्पणी मे लिख दें या ग्रन्थ के अन्त मे परिशिष्ट मे अपने विचारो का उल्लेख कर दें। आज अर्वाचीन ग्रन्थों की मूल भाषा को शुद्ध करने वालो को भी कोई लेखक पसन्द नही करता है। फिर प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों की मूल भाषा को शुद्ध करके उसे विकृत करना तो एक बहुत बड़ा दुस्साहस है।

जैन शौरसेनी आगमों की भाषा समस्त प्राकृतों से प्राचीन है इसलिए उसके रूपो मे विविधता का होना स्वाभाविक है। १२वीं शताब्दी के वैयाकरणों के व्याकरण के नियमों के अनुरूप बनाना सर्वथा अनुचित है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं प्राकृत व्याकरण में आर्षम् १।३ सूत्र के द्वारा कहा भी है कि *आर्ष अर्थात्—आगम सम्बन्धी शब्दों की सिद्धि मे प्राकृत व्याकरण के नियम लागू नहीं होते हैं। प्राकृत व्याकरण के नियम नाटको, काव्य साहित्य* आदि पर ही लागू होते हैं। अतः संशोधन के बहाने जैन शौरसेनी को विकृत करना उचित नही है। मैं आपके विचारों से पूर्ण रूप से सहमत हू।

आपका :

(डॉ०) लालचन्द जैन
प्रभारी-निदेशक
प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली

(पृ० २२ का शेषांश)

गोदपुरम, अलातूर, मुंडूर, किणालूर आदि स्थानो से भग्न मन्दिर और मूर्तिया प्राप्त हुई हैं। पार्श्वनाथ, महावीर और पद्मावती की इन मूर्तियों मे से अनेक को सुन्दर और सुडौल पाया गया है। केरलचरित्रम् मे यह उल्लेख है कि तलक्काड मे प्राप्त मूर्ति को यद्यपि विष्णु मूर्ति कहा जाता है किन्तु उसका शिल्प सौष्ठव चितराल के जैन शिल्प के सदृश है। श्रीधर मेनन भी जैन मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी जैनों का valuable contribution स्वीकार किया है।

केरल के भगवती मन्दिरों में तेय्यट्टम् नामक एक उत्सव में *अष्टमगल द्रव्यों के प्रयोग की सूचना डा० कुरुप* ने इस प्रकार दी है—"The virgin girls who had observed several rituals like holy bath and clad in white clothes proceed with Talappoli before the Teypam of Bhagwyti. In festivals and other occasions the eight auspicious articles like umbrella, conch, swastik, Purna Kumbh, and mirror are provided for prosperity and happiness as a tradition. This custom is also relating to Jainism."

पुरानी-यादें

१. प्रामाणिकता कहाँ है ?

वे बोले—मुझे वे दिन याद आते हैं जब मैं एक बड़े दफ्तर मे कार्यरत था। अच्छा पैसा मिलता था। रहने को बंगला, कार, नौकर-चाकर सम्बन्धी सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। सैकड़ो लोग सुबह से शाम और रात तक भी मेरे मुख की ओर देखते थे कि कब मेरे मुंह से क्या निकले और वे तदनुरूप कार्य करे। कोई ऐसा पल न जाता था जब कोई न कोई मेरी ताबेदारी में खड़ा न रहता हो। पर, क्या कहू ? आज स्थिति ऐसी है कि बेकार बैठा हूं। रहने का ठिकाना नही। नौकर-चाकर की क्या कहूं ? मैं खुद ही मेरा नौकर हूं। मैं कही नौकरी करना चाहता हूं—कोई नौकरी नहीं देता। कई टायम तो भूखो रह केवल पानी के दो घूट पीकर खाली पेट ही सोता हूं।

मैंने पूछा—यह सब कैसे हो गया ? दफ्तर के कार्य का क्या हुआ ?

बोले—क्या कहूं ? बचपन से मेरा खेल-कूद मे मन रहा। घर वालों के बारम्बार कहने पर भी मैं पढ़ने से जी चुराता रहा और जब बडा हुआ तब देखा कि मेरे साथी यूनिवर्सिटियों की डिग्री लेकर अच्छे-अच्छे पदों पर लगे चैन की वशी बजा रहे हैं। मुझे अपने पर बड़ा तरस आया। मैंने सोचा, यदि मेरे पास डिग्री होती तो मैं भी कही न कही कोई आफीसर बन गया होता। बस, इसी सोच में काफी दिनो रहा कि एक दिन मेरे किसी जानकार ने मुझे कहा कि तू डिग्री ले ले। मैंने कहा—कहा से कैसे ले लू ? अब तो उम्र भी बडी हो गई है। उसने मुझे बताया कि पड़ोस के मुहल्ले मे एक सस्था गुप्त रूप मे डिग्रियां देती है। तेरे कुछ पैसे जरूर लगेंगे, पर तेरा काम हो जायगा। बस, क्या था ? मरता क्या न करता—मैं उस संस्था में पहुचा और जैसे-तैसे दो हजार रुपयो में सौदा बन गया। मैंने सोचा इतने रुपये तो दो मास की तनख्वाह हैं, बस वसूल हो जाएँगे। मैंने रुपयों का जुगाड़ करके एम० ए० की डिग्री ले ली और मुझे आफिस मे काम मिल गया।

होनहार की बात है कि एक दिन मेरा आफिस के एक साथी से झगड़ा हो गया और उसने किसी तरह मेरी जाली डिग्री की बात कहीं न कहीं से जान ली और मेरी शिकायत कर दी। मैं जांच के लिए निलंबित कर दिया गया। मुकद्मा चला और आठ वर्ष के कार्यकाल में जो कुछ जोड़ा था वह सब खर्च हो गया। पर, मैं निर्दोष न छूट सका। नौकरी भी गई और जुर्माना भी भरना पडा।

मैंने कहा—आपने जाली सार्टीफिकेट क्यों बनवाया ? क्या आप नही जानते कि वही सार्टीफिकेट काम देता है, जो किसी स्वीकृत और प्रामाणिक बोर्ड या विश्वविद्यालय से मिला हो—किसी ऐसे व्यक्ति, संस्था या समाज से मिला प्रमाण-पत्र जाली होता है जिसे उतनी योग्यता न हो और जो प्रमाण-पत्र देने के लिए अधिकृत न हो। उसका दिया सार्टीफिकेट तो बोगस और झूठा ही होगा।

वे बोले—वक्त की बात है, होनी ही ऐसी थी। वरना कई लोग तो आज भी अयोग्य और अनधिकृत लोगों से उपाधियाँ, अभिनन्दनादि ले रहे हैं—वे सम्मानित भी हो रहे हैं और उनकी तूती भी बोल रही है।

मैंने कहा – आपकी दृष्टि से आपका कहना तो ठीक है पर, इसकी क्या गारण्टी है कि उनकी प्रामाणिकता भी आपकी तरह किसी न किसी दिन समाप्त न होगी ? फिर, ऐसे उपक्रमो की प्रामाणिकता है ही कहां ? सभी लोग तो ऐसे उपक्रमों के वैसे समर्थक नहीं होते जैसे वे विश्वविद्यालयो द्वारा प्रदत्त उपाधियो के पोषक होते हैं। आप निश्चय समझिए कि प्रामाणिक उपाधि सभी स्थानों पर, सभी की दृष्टि में प्रामाणिक ही रहेगी—एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो किसी सरकार द्वारा दी गई उपाधि को जाली बताने की हिम्मत कर सके। जबकि

भीड़ के द्वारा दी गई उपाधियों के विषय मे सभी एकमत नही होते—कुछ न कुछ लोग उसे नकारने वाले अवश्य ही होते हैं।

उक्त कथन से हमारा तात्पर्य ऐसा नही कि हम अभिनन्दनों या उपाधियो का जनाजा निकाल रहे हो। अपितु ऐसा मानना चाहिए कि हम गुण-दोषों के आधार पर सही रूप मे किसी सम्मान के पक्षपाती हैं—सम्मान होना ही चाहिए। पर, हम ऐसे सम्मान के पक्षपाती है जो किसी ऐसे अधिकृत, तद्गुणधारक, पारखी और अभिनन्दित के द्वारा किया गया हो—जिनकी कोई अवहेलना न कर सके। उदाहरण के लिए जैसे मैं 'विद्यावाचस्पति' नही—शास्त्रों में मूढ हूं और किसी को 'सकल शास्त्र पारगत' जैसी उपाधि से विभूषित करने का दुःसाहस करूँ (यद्यपि ऐसा करूंगा नही) तो आप जैसे समझदार लोग मुझे मूर्ख न कह 'महामूर्ख' ही कहेंगे और उस उपाधि को भी बोगस, जाली, झूठी और न जाने किन-किन सम्बोधनों से सम्बोधित करेंगे ? और यह सब इसलिए कि मैं उस विषय मे अकिंचन हूं, मुझमे तदर्थ योग्यता, परख नही है। फलतः—

हमारी दृष्टि में वे ही उपाधियां और अभिनन्दन-युक्तियुक्त और प्रामाणिक हैं जो तद्गुणधारक किसी अधिकृत, अभिनन्दित और पारखी व्यक्ति या समुदाय की ओर से दिए गए हों और जिनका दाता (व्यक्ति या समाज) किसी पूर्वाभिनन्दित व्यक्ति या समाज द्वारा कभी अभिनन्दित हो चुका हो। उक्त परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान में बटने वाली उपाधियो या अभिनन्दनो और विभिन्न पोस्टरो की डिग्रियो का स्थान या महत्त्व कब, कैसा और कितना है ? है भी या नही ? जरा सोचिए ! कहीं वर्तमान के पदवी आदान-प्रदान जैसे उपक्रम, गुटबाजी, अहं-वासना या पैसे से प्रेरित तो नही है ? यदि हां, तो 'अहं' के पोषक ऐसे उपक्रमो पर ब्रेक लगाना चाहिए। फिर, आप जैसा सोचे सोचिए। हां, यह भी सोचिए कि पूर्वाचार्यों की उपाधियो और अभिनन्दनों की प्राप्ति मे भी क्या हम चालू जैसी 'तुच्छ' परम्परा की कल्पना कर उनके स्तर की भी अवहेलना के पाप का बोझ अपने सिर लें ?

२. क्या मूलमन्त्र बदल सकेगा ?

हमने मूल आगम-भाषा के शब्दो में उलट-फेर न करने की बात उठाई तो प्रबुद्ध वर्ग ने स्वागत कर समर्थन दिया—सम्मतियां भी आयीं। बावजूद इसके हमारे कानों तक यह शब्द भी आए कि—शब्दरूप बदलने से तो अर्थ में कोई अन्तर नही पड़ा। उदाहरण के लिए 'लोए' या 'होइ' के जो अर्थ है वे ही अर्थ 'लोगे' या 'होदि' के हैं और आप स्वय ही मानते हैं कि अर्थ-भेद नही है—नमक, लवण, सैन्धव भी तो एकार्थवाची हैं—कुछ भी कहो। सभी से कार्य-सिद्धि है।

बात सुनकर हमे ऐसी बचकानी दलील पर हंसी जैसी आ गई। हमने सोचा—यदि अर्थ न बदलने से ही सब ठीक रहता है तब तो कोई 'णमो अरहंताणं' मंत्र को **'अस्सलामालेकुं अरहंता' या 'गुडमोनिंग टू अरहंताज'** भी बोल सकेगा—वह भी मूलमन्त्र हो जायेगा। क्या कोई ऐसा स्वीकार करेगा—जपेगा या लिखकर मंदिरों मे टांगेगा या इन्हे मूलबीज मंत्र मानकर ताम्र यन्त्रादि मे अंकित करायेगा ? कि ये अंश णमोकार मूलमंत्र का है। क्योंकि इनके अर्थ मे कहीं भेद नही है।

पर, हमने जो दिशा-निर्देश दिया है वह अर्थभेद को लेकर नही दिया—भाषा की व्यापकता कायम रखने और अन्य की रचना मे हस्तक्षेप न करने देने के भाव में दिया है। ताकि भविष्य मे कोई किसी अन्य की रचना को बदलने जैसी अनधिकार चेष्टा न कर सके। क्योंकि यह तो सरासर परवस्तु को स्व के कब्जे मे करके उसके रूप को बदल देना है ताकि दावेदार उसकी शिनाख्त ही न कर सके और वह सबूत देने से भी महरूम हो जाय।

हां, यदि कदाचित् कोई व्यक्ति किसी की रचना मे अशुद्धि या अशुद्धि का मिलाप मान ले हो तो सर्वोत्तम औचित्य यही है कि वह लोक-प्रचलित रीतिवत्—किसी एक प्रति को आदर्श मानकर पूरा-पूरा छपाए और अन्य प्रतियो के पाठ टिप्पण मे दे। जैसा कि विद्वानो का मत है। दूसरा तरीका है—वह पूर्व प्रकाशनो को मलिन न कर स्वय उस भाषा मे अपनी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना करे। क्या ठीक है ? जरा सोचिए ? —सम्पादक

ऊन के देवालय

□ श्री नरेश कुमार पाठक

ऊन पश्चिमी निमाण के जिला मुख्यालय खरगोन से १८ कि. मी. जुलवानिया मार्ग पर स्थित है। यह गाव लगभग एक सहस्त्राब्दि पूर्व एक सम्पन्न नगर रहा होगा। जिसके प्रमाण परमार शैली के लगभग एक दर्जन मन्दिरों के अवशेष हैं। यह स्थान जैन स्थापत्य एव मूर्तिकला का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां प्रसिद्ध सुवर्ण भद्र तथा अन्य तीन सन्तों को नमन कर जिन्होने चलना नदी के तट पर स्थित पावागिरि शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया था। चलना नदी को आधुनिक इतिहासकार ऊन के पास बहने वाली नदी को मानते हैं तथा पावागिरि को आधुनिक ऊन से समीकृत करते हैं। डा० रामलाल कंवर ने लिखा है, कि ऊन के मन्दिर परमारो की निर्मितियां हैं तथा मालवा की परमार कालीन भूमिज शैली का शत प्रतिशत अनुकरण है। अत: बिना ऊन के मन्दिरों के अध्ययन के मालवा की मन्दिर वास्तुकला का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है[1]। ऊन मे दो जैन मन्दिर हैं, जिनका विवरण निम्नानुसार है :—

चौबारा डेरा नं० २ (नहल अवर का डेरा)

मन्दिर का नाम स्थानीय निवासियो में "नहल अवर का डेरा" तथा लोकप्रिय सम्बोधन मे 'चौबारा डेरा नं० २' कहा जाता है। यह ऊन मे स्थित जैन मन्दिरों मे अत्यन्त उल्लेखनीय मन्दिर है तथा ऊन के सर्वाधिक सुन्दर स्मारको में से एक है। दुर्भाग्यवश इस मन्दिर का शिखर नष्ट हो गया है। इसमे गर्भगृह छोटा अन्तराल और मण्डप है। मण्डप आठ स्तम्भों से युक्त है, वर्तमान में जो चौबारा दिखाई देता है। इसकी छतो मे अलकृत पद्म बने हैं। द्वार शाखाएँ, पत्र लताओ से सुशोभित है। इसके सिरदलों पर तीर्थंकर और यक्षी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। भित्तियों पर मिथुन मूर्तियो का अकन है। पत्थर के क्षरण से मूर्तियां बहुत कुछ अस्पष्ट होती जा रही हैं। सरसरी दृष्टि से देखने पर ये पकड मे नही आती। यहां के कलाकारों शिल्पी ने लौकिक और धार्मिक दोनो ही जीवनों को पाषाण मे मूर्ति रूप दिया है। एक ओर उसने तीर्थंकरों उनके यक्ष-यक्षियो का अंकन किय तो दूसरी ओर लोकानुरजन दृश्यों जैसे सुर-सुन्दरियों और मिथुनो को भी अपनी कल्पना और कला के सहारे पाषाणों में सजीव रूप दिया। यह मन्दिर अलकृत स्तम्भों का आकर्षण नमूना है तथा वह परमार स्थापत्य कला की ऊँचाइयो को छूता दिखाई देता है[1]। कृष्णदेव का मत है कि यह मन्दिर कुमारपाल देव चालुक्य शैली मे निर्मित किया गया होगा। डा० रामलाल कवर ने कृष्णदेव के मत पर आपत्ति उठाते हुए लिखा है, कि यह चौबारा डेरा क्रमांक २ शैली और अलकरण मे चौबारा डेरा क्रमांक एक के तुल्य बैठना है और इस नाते यह निश्चित ही परमार शैली का सिद्ध होना है। अभिलेखीय आधार पर चौबारा डेरा का निर्माण काल सन् ११८५ ईस्वी है[1]। इस मन्दिर की दो प्रतिमा इस समय केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर में है। बडी प्रतिमा शान्तिनाथ की है। वर्तमान में इस मन्दिर में कोई प्रतिमा विराजमान नहीं है।

"ग्वालेश्वर मन्दिर"

यह मन्दिर एक पहाड़ी पर बना हुआ है जिसे स्थानीय लोग ग्वालेश्वर मन्दिर कहते है। यह नाम सम्भवत: विगत काल मे आधी पानी वाले मौसम में ग्वाल लोग यहां आश्रय लेते थे। यह मन्दिर भी अपनी पूर्णता मे देखा जा सकता है केवल आमलक और चूडा-मणि का इसमे अभाव है। यह मन्दिर भूमिज शैली का है। वर्तमान मे जैन धर्मावलम्बियों ने ऊपर पुन: निर्माण कर आंशिक रूप से आधुनिकता दे दी है[1]। शैली तथा

अलंकरण की दृष्टि से चौबारा डेरा क्रमांक २ के तुल्य ही है। ऐसा लगता है कि मन्दिर का द्वार मण्डप बनाया नही गया था। इसका महामण्डप वर्गाकार है। उसके तीन द्वार बाहर की ओर खुलते है तथा एक गर्भगृह की ओर जाता हैं। एक छोटे अन्तराल द्वारा गर्भगृह मण्डप से जुड़ा है। तीनो द्वार के सिरदल पर पद्मासन मे तीर्थंकर मूर्तियां अंकित है। गर्भगृह मण्डप से लगभग ३ मीटर नीचे है। इसी कारण गर्भगृह मे इस सीढ़ियो के मार्ग द्वारा पहुचा जा सकता है[५]। गर्भगृह के भीतर तीन विशाल तीर्थंकर प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे विराजमान है जो क्रमशः सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्तरहवे तीर्थंकर कुन्थनाथ और अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ ही है। इनमे कुन्थनाथ जो सर्वाधिक विशाल हैं लगभग ३ ७५ मीटर हैं। पादपीठ लेख मे ज्ञात होता है कि मन्दिर का निर्माण (१२६३ विक्रम सवत् ज्येष्ठ १३)[६] सन् १२०६ मे हुआ[७]। इन मूर्तियो के दोनो ओर गर्भगृह के पीछे की दीवार के साथ-साथ उनके छोटी-छोटी सीढ़ियां है और ये सीढ़ियां मूर्तियो का अभिषेक करने के इच्छुक दर्शनार्थियों के उपयोग के लिए है। कृष्णदेव का मत है कि यह मन्दिर परमार और चालुक्य मन्दिर वास्तुकला का मिश्रित नमूना है। डा० रामलाल कंवर कृष्णदेव के मत से सहमत होते हुए लिखा है कि इस कथन मे बहुत कुछ सार दिखाई देता है क्योंकि ग्वालेश्वर के मन्दिर का शिखर बहुत कुछ ऊन मे विद्यमान अन्य मन्दिरो के शिखर से पर्याप्त भिन्नता रखता है। यह सहज भी है, क्यो कि नरवमन और उसके उत्तराधिकारी के समय मालवा पर चालुक्य अधिपत्य स्थापित हो गया था। इधर मालवा नरवर्मन और ऊपर चालुक्यराज कुमार पाल दोनो ही जैन धर्म के सबल समर्थक थे। सम्भव है इन मन्दिरो के जैन निर्माताओं ने दोनो की प्रेरणा ग्रहण करके इन मन्दिरो का निर्माण करवाया होगा। इन आधारो पर चौबारा डेरा क्रमाक २ के बारे मे यह कहा जा सकता है कि यह चौबारा डेरा क्रमांक एक समरूप है। यदि उसका शिखर ग्वालेश्वर के शिखर के समान रहा हो तो दूसरी ओर यह भी परमार और चालुक्य शैलियो का सम्मिश्रण कहा जा सकता है[८]।

—पुरातत्व एव संग्रहालय
नलघर सुभाष स्टेडियम के पीछे,
रायपुर (म० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. कंवर रामलाल "प्राचीन मालवा मे मन्दिर वास्तुकला" दिल्ली १९८४ पृ० १७८।
२. इन्दौर स्टेट गजेटियर इन्दौर १९३१ पृ० ७१-७२।
३. वही पृ० ७१।
४. पश्चिमी निमाड जिला गजेटियर भोपाल १९६७, पृ० ५ ०।
५. इन्दौर स्टेट गजेटियर इन्दौर १९३१ पृ० ७२।
६. सक्सेना मथावीर प्रसाद "मध्य भारत की मार्गदर्शिका" ग्वालियर १९५२, पृ० १२४।
७. इन्दौर स्टेट गजेटियर इन्दौर १९३१ पृ० ७१।
८. कंवर रामलाल पूर्वोक्त पृ० १७८-७९।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति —श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तीलाल जैन कागजी के सौजन्य से, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Basic Tenents of Jainism : By Shri Dashrath Jain Advocate. 5-00

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड

पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४६ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९३

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

गोम्मटेस-थुदि

(गोम्मटेश-स्तुति)

(आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती विरचित)

विसट्ट-कंदोट्ट-दलाणुयारं ।
सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं ॥
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥१॥

अच्छाय-सच्छं-जलकंत-गंडं ।
आबाहु-दोलंत सुकण्ण-पासं ॥
गइंद-सुण्डुज्जल - बाहुदण्डं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥२॥

सुकण्ठ-सोहा जिय-दिव्व संखं ।
हिमालयुद्दाम - विसाल-कंधं ॥
सुपेक्ख-णिज्जायल-सट्ठुमज्झं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥३॥

विज्झायलग्गे पविभासमाणं ।
सिहामणिं सव्व-सुचेदियाणं ॥
तिलोय-संतोसय-पुण्णचंदं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥४॥

लयासमक्कंत - महासरीरं ।
भव्वावलीलद्ध-सुकप्परुक्खं ॥
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥५॥

दियंबरो यो ण च भीइ जुत्तो ।
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ॥
सप्पादि जंतुप्फुसदो ण कंपो ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥६॥

आसां ण ये पेक्खदि सच्छदिट्ठि ।
सोक्खे ण वंछा हयदोसमूलं ॥
विरायभावं भरहे विसल्लं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥७॥

उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं ।
सुसम्मजुत्तं मयमोहहारयं ॥
वस्सेय पज्जंतमुववास जुत्तं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ॥८॥
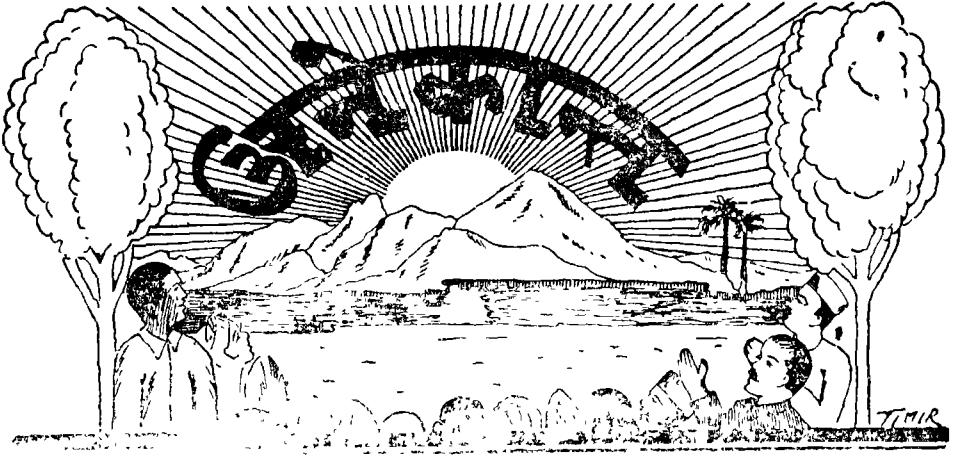
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४६ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५१९, वि० सं० २०५० | जुलाई-सितम्बर १९९३

चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-स्तवन

श्रीशारदाऽऽधारमुखारविन्दं सदाऽनवद्यं नतमौलिपादम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥१॥
निराकृताराति कृतान्तसङ्गं सन्मण्डलीमण्डितसुन्दराङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥२॥
शशिप्रभा-रीतियशोनिवासं समाधिसाम्राज्यसुखावभासम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥३॥
अनल्पकल्याणसुधाब्धिचन्द्रं सभावलीसून-सुभाव-केन्द्रम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥४॥
करालकल्पान्तनिवारकारं कारुण्यपुण्याकर-शान्तिसारम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥५॥
वाणीरसोल्लासकरीरभूतं निरञ्जनोऽलंकृतमुक्तिकान्तम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥६॥
क्रूरोपसर्गं परिहर्तुमेकं वाञ्छाविधानं विगताऽपसङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥७॥
निरामयं निर्जितवीरमारं जगद्धितं कृष्णपुरावतारम् ॥ चिन्तामणि० ॥८॥

अभिज्ञान शाकुन्तल में अहिंसा के प्रसंग

□ डॉ० रमेश चन्द्र जैन

कालिदास एक अहिंसावादी कवि थे। उनके द्वारा ग्रथित अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के सूक्ष्म अध्ययन से उनकी अहिंसावादी मनोवृत्ति की पर्याप्त झाँकी प्राप्त होती है। इस नाटक के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ मे ही नटी कहती है कि प्रमदायें दयाभाव मे युक्त हो भ्रमरो द्वारा कुछ कुछ चूमे गए कोमल केसर शिखा से युक्त शिरीष पुष्पो को अपने कानो का आभूषण बना रही है। इस पद्य मे 'दअमाणा' पद साभिप्राय है। मदयुक्त (सौन्दर्य आदि के कारण मतवाली) होने पर भी दयाभाव के कारण युवतियां शिरीष के फलो को सावधानी के साथ तोड़कर कर्णाभूषण बना रही हैं। जिस प्रकार भौंरे बहुत सावधानी से फूलो का रसास्वादन करते हैं, उसी प्रकार युवतियाँ भी बड़ी सावधानी से पुष्पो का स्पर्श कर रही हैं। किसी को किसी प्रकार कष्ट पहुचाए बिना उससे कुछ ग्रहण करना उपर्युक्त भ्रामरी वृत्ति की सदृशता के अन्तर्गत परिगणित होता है। जैन ग्रन्थो मे साधु को भ्रामरी वृत्ति का पालक कहा गया है। जैन साधु बिना गृहस्थ को कष्ट पहुंचाए उसके न्यायोपार्जित धन से बने हुए आहार मे से कुछ आहार अपने उदर की पूर्ति हेतु ले लेता है, उसके लिए श्रावक को विशेष उपक्रम नही करना पडता है। यही कारण है कि साधु को उद्दिष्ट भोजन लेने का निषेध । भ्रामरी वृत्ति का एक तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर थोडा-थोडा रस ग्रहण कर बैठता रहता है, उसी प्रकार साधु भी वर्षाकाल को छोडकर अन्य समय मे एक स्थान पर अधिक दिन निवास न करे; क्योकि इससे श्रावको से गाढ़ परिचय होने के कारण रागभाव की वृद्धि की आशङ्का होती है। इसीलिए भगवान बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को बहुजन हिताय बहुजन सुखाय सतत गतिशील रहने का उपदेश दिया था—'चरथ भिक्खवे चारिक, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।"

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के सातवे श्लोक मे शिकारी राजा दुष्यन्त के द्वारा पीछा किए जाते हुए हिरण का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। हिरण की स्थिति को देखकर निष्ठुर व्यक्ति के मन मे भी करुणा जाग्रत हो सकती है—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्॥
दर्भैरर्द्धविलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

अर्थात् देखो, पीछे दौडते हुए रथ पर पुन: पुन. गर्दन मोडकर दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय के कारण (अपने) अधिकांश पिछले अर्द्धभाग से अगले भाग मे सिमटा हुआ, थकावट के कारण खुले हुए मुख से अर्द्धचर्वित कुशो से मार्ग को व्याप्त करता हुआ ऊँची छलाग भरने के कारण आकाश मे अधिक और पृथ्वी पर कम चल रहा है।

राजा को आश्रम के मृग पर प्रहार करने को उद्यत देखकर तपस्वी कहता है—"राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य.' अर्थात् यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये। इस कोमल मृग शरीर पर रुई के ढेर पर अग्नि के समान यह बाण न चलाइये, न चलाइए। हाय! बेचारे हिरणो का अत्यन्त चञ्चल जीवन कहाँ और तीक्ष्ण प्रहार करने वाले वज्र के समान कठोर आपके बाँण कहाँ[१]?

शस्त्रो की उपयोगिता केवल दुःखी प्राणियों की रक्षा के लिए है, निरपराध पर प्रहार करने के लिए नही है[२]। आश्रम मे सब प्रकार की हिंसा का निषेध है, अत उसका पुण्याश्रम नाम सार्थक है। ऐसे पुण्याश्रम के दर्शन से ही व्यक्ति पवित्र हो जाता है[३]। पशु-पक्षी भी ऐसे स्थान पर

विश्वस्त होकर रहते हैं और सब प्रकार के शब्दों के प्रति सहिष्णु हो जाते हैं। रक्षा के कार्य मे राजा का सबसे बड़ा योग होता है। तप का सचय प्रतिदिन करने के कारण राजा राजर्षि कहलाता है—

अध्याक्रान्तावसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये ।
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यह सञ्चिनोति ॥
अस्यापि द्या स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः ।
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवल राजपूर्वः ॥
अभिज्ञान शाकुन्तलम् २।१४

अहिंसक भावना से ओत-प्रोत स्नेह का पशु-पक्षियो और वृक्षो पर प्रभाव पडता है। वे भी अपने स्नेही के वियोग मे कातर हो जाते हैं। शकुन्तला के वियोग मे पशुपक्षियो की ऐसी ही दशा का चित्रण कालिदास ने किया है—

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥
अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४।१२

अर्थात् शकुन्तला के वियोग के कारण हिरणिओ ने कुशो के ग्रास उगल दिए, मोरो ने नाचना छोड दिया और लतायें मानो आँसू बहा रही है।

शकुन्तला के द्वारा पुत्र के रूप मे पाला गया मृग इतना सवेदनशील है कि शकुन्तला को विदाई के समय वह उसका मार्ग ही नही छोडना है —

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीना ।
तैल न्यषिच्यत् मुखे कुश सूचिविद्धे ॥
श्यामाकमुष्टि परिवर्द्धितको जहाति ।
सोऽय न पुत्रकृतकः पदवी मृगस्ते ॥
अभि. शाकु. ४।१४

अर्थात् जिनके कुशो के अग्रभाग से बिंधे हुए मुख मे तुम्हारे द्वारा घावो को भरने वाला इन्गुदी का तेल लगाया गया था, वही यह सावा की मुट्ठिओ (ग्रासों) को खिला कर बड़ा किया गया और तुम्हारे द्वारा पुत्र के समान पाला गया मृग तुम्हारे मार्ग को नहीं छोड रहा है।

जीवन मे अहिंसा की भावना सर्वोपरि है। जिसके जीवन में अहिंसक आचरण नही है, उसका लोकनिन्दित जीविका वाले व्यक्ति भी उपहास करते हैं। शाकुन्तल के छठे अंक में जब श्याल मत्स्योपजीवी की हँसी उडाता है वह तो अनुकम्पामृदु श्रोत्रिय का उदाहरण देकर अपने जीविकोपार्जन की पद्धति का औचित्य सिद्ध करना चाहता है—

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव शोत्तिए ॥
अभि. शाकु. ६।१

अर्थात् निन्दित भी जो काम वस्तुत. वश परम्परागत है, उसको नही छोडना चाहिए। यज्ञ मे पशुओं को मारने रूपी कार्य मे कठोरवृत्ति वाले भी वेदपाठी ब्राह्मण दया-भाव मे मृदु ही कहे जाते ह।

ऐसा लगता है, कालिदास के समय यज्ञो मे जो पशु हिंसा होती थी, उसे जन सामान्य अच्छा नही समझता था। छठे अङ्क मे ही जब राजा मातलि का स्वागत करता है तो विदूषक कहता है—'अह जेण इट्टिपसुमार मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि' अर्थात् जिसने मुझे यज्ञिय पशु की मार मारा है, उसका यह स्वागत के द्वारा अभिनन्दन कर रहे है।

जहाँ अहिंसा और प्रेम होता है, वहाँ विश्वास की भावना प्रबल होती है। छठे अङ्क मे चित्रकारी के नैपुण्य की पराकाष्ठा को प्राप्त एक कृति राजा बनाना चाहता है—

कार्या सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावना. ॥
शाखालम्बित वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः ।
शृगे कृष्णमृगस्य वामनयन कडूयमाना मृगीम् ॥
अभि. शाकु. ६।१७

जिसके रेतीले किनारे पर हसो के जोड़े बैठे हुए है, ऐसी मालिनी नदी बनानी है, उसके दोनो ओर जिन पर हिरण बैठे हुए है ऐसे हिमालय की पवित्र पहाड़ियाँ बनाई है, जिनकी शाखाओ पर वलकल लटके हुए है, ऐसे वृक्ष के नीचे कृष्णमृग के सीग पर अपनी बाईं आँख खुजाती हुई मृगी को बनाना चाहता हूँ

हसमिथुन प्रेम का प्रतीक है। प्रेम की अवतारणा कृष्णमृग और मृगी मे हुई है। मृगी को मृग पर इतना अगाध विश्वास और प्रेम है कि वह उसके सीग पर अपनी बायी आख खुजला रही है। (शेष पृ० ४ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में जिनदीक्षा : एक अध्ययन

□ श्री राजेन्द्र कुमार बंसल

जिनवरों का मार्ग वीतरागता का है। आत्मा मे मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति न हो और वह अपने ज्ञान-दर्शन, आनन्द आदि अनन्त दिव्य गुणो मे लीन रहे यही उसका धर्म है। आत्मा स्वय आनन्द एव शिव स्वरूप है किन्तु अनादि मोहजन्य अरुचि, अज्ञान तथा कषायजन्य असयम के कारण वह अपने दिव्य स्वरूप से बेखबर रहा है और पर वस्तुओ मे सुख की कल्पना कर उनके सयोग या वियोग के प्रयास मे अनन्त काल से भटक रहा है। पर वस्तुओ के कर्तृत्व एव स्वामित्व के अहकार मे जितनी

(पृ० ३ का शेषाश)

इस प्रकार सारी प्राकृति सृष्टि के प्रति सवेदनशील महाकवि कालिदास अपने सुकुमार भावो की व्यजना मे अहिंसा को पर्याप्त स्थान दिया है।

जैन मन्दिर के पास बिजनौर, (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमा केसर सिहाइं।
ओदसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं॥
अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।४

२. न खलु न खलु बाण. सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्नि।
क्व बत हरिणकाना जीवित चातिलोल।
क्व च निशितनिपाता वज्रसारा: शरास्ते॥
अभि० शाकु० १।१०

३. आर्तत्राणाय व: शस्त्र न प्रहर्तुमनागसि॥
अभि० शाकु० १।१८

४. पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मान पुनीमहे॥
प्रथम अङ्क पृ० २८

५. विश्वासोपगमादभिन्नगतय: शब्द सहन्ते मृगा॥
अभि० शाकु० १।१४

नष्टाशकाहरिण शिशवो मन्दमेन्द चरन्ति॥ वही १।१५
गाहन्ता...अस्मद्धनु:॥ वही २।७

शक्ति क्षय हुई उसका एक अश भी यदि आत्म स्वभाव की ओर ढलता तो आत्मा विकार-वासना से मुक्त होकर स्वतन्त्र, स्वाधीन एव परिपूर्ण हो गया होता।

जिनदीक्षा : महान प्रतिज्ञा :

आत्म साधक के लिए "जिनदीक्षा" शब्द से सहज ही आत्म स्फुरण (रोमाच) हो जाता है। जिनदीक्षा राग-द्वेष परिहार का एक महान सकल्प, सर्व प्रकार के अन्तर बाह्य परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा, विषय वासना के दमन, सर्व पापो से विरत रहने का श्रेष्ठ व्रत होता है। जिसमे साधक शुद्धोपयोग रूप मुनि धर्म अगीकार कर अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव मे रहता हुआ साम्य जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करता है।

प्रतिज्ञा का उल्लंघन महापाप :

जिनदीक्षाधारी साधक वीतरागी जिनवरो के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होते है जो "वीतरागता" के अशो मे वृद्धि हेतु सतत् प्रयासरत रहते हैं। इस कारण जिन मार्ग मे साधु पद को पूज्यनीय मानते हुए उन्हे आयतन, चैत्यगृह जिन प्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, भाव-अरहन्त एव प्रवज्या जैसा महिमामडित किया है (बोधपाहुड गाथा ३/४)। लोक मे सामान्य प्रतिज्ञा भग को महापाप माना है। **उच्च पद पर रहकर निम्न क्रिया करने वाला महापापी होता है।** आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा कि साधु का जन्मे बालक जैसा नग्न रूप होता है। यदि वह तिलतुष मात्र भी परिग्रह रखे तो निगोद का पात्र है (सूत्र पा० गाथा १८)। आचार्य गुणभद्र ने ऐसे व्यक्ति को उलटी कर पुन: वमनभक्षण करने जैसा निन्दनीय माना है। (आत्मानुशासन गाथा २१७)।

उच्च पद धारण कर निम्न प्रक्रिया करने वाले साधक को गुरु मान कर पूजना जिनमार्ग में निन्दनीय, अनन्त पाप का कारण माना है। कहते है कि सर्प के

काटने से एक बार ही मरण होता है किन्तु उन्मार्गी गुरु मानने से अनन्त भव जन्म-मरण करना पड़ता है। इस महापाप से बचने हेतु जिनदीक्षा उन्ही भव्य आत्माओ को ग्रहण करना चाहिये जो अन्तरग-बहिरंग परिग्रह का त्याग, भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि बाइस परिषहो का समतापूर्वक सहने एव आत्मस्वरूप मे लीन रहने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा; पद के अयोग्य व्यक्ति को उच्च पद देने से जिनमार्ग उपहास का विषय बनता है।

दीक्षा का प्रथम सोपान : भावशुद्धि :

जिनदीक्षा का प्रथम सोपान भावशुद्धि है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनपाहुड में सम्यग दर्शन के महत्व को अंकित किया है। उनके अनुसार दर्शन ही धर्म का मूल है। सम्यक्त्व के बिना धर्म भी नही होता। (गाथा २)। जो दर्शन भ्रष्ट है; ज्ञान भ्रष्ट है, चारित्र भ्रष्ट है वे जीव भ्रष्ट से भ्रष्ट है (गाथा ८)। भाव पाहुड मे सम्यग्दर्शन रहित पुरुष को "चलशव" अर्थात् चलता हुआ मृतक जैसा माना है। (गाथा १४३)।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनदीक्षा की पूर्व स्थिति के सम्बन्ध मे कहा कि पहले मिथ्यात्व आदि दोषो को छोड कर भाव से अन्तरग नग्न हो, पीछे मुनि रूप द्रव्य बाह्यलिंग जिन आज्ञा से प्रकट करे, यही मोक्षमार्ग है (भाव पा० ७३)। भाव ही स्वर्ग और मोक्ष का कारण है। भाव रहित श्रमण पापस्वरूप है। तिर्यंच गति का स्थान तथा कर्ममल से मलिन चित्त वाला है (गा० ७४)। इसलिए अन्तर-बाह्य भाव दोषो से अत्यन्त शुद्ध होकर निर्ग्रन्थ जिनदीक्षा धारण करना चाहिए (गाथा ७०)।

जिनदीक्षा का अन्तर-बाह्य रूप-स्वरूप :

वीतरागता अर्थात् मोह-क्षोभ रहित धर्मस्वरूप सौम्य परिणामो की प्राप्ति हेतु भावशुद्धि सहित, उभय परिग्रह रहित अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे रमण करने का उपक्रम जिनदीक्षा है। अध्यात्म के अमर ज्ञायक आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने पच परमागम मे विश्व व्यवस्था आत्मस्वरूप, जिनलिंग, जिनदीक्षा तथा श्रावक साधुओ के रूप-स्वरूप पर बहुत ही व्यापक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'पव्वज्जा सव्वसग परिचत्ता' अर्थात् सर्व परिग्रह से रहित प्रव्रज्या, जिनदीक्षा का रूप स्वरूप है जो निम्न विवरण या अवस्था से स्पष्ट होता है :—

१—जो दया से विशुद्ध है वह धर्म है, जो सर्व परिग्रह से रहित है वह दीक्षा (प्रव्रज्या) है, जिसको मोह नष्ट हो गया, वह देव है जिससे सब जीवो का कल्याण (उदय) होता है (बोध पा० २५)।

२ जिनदीक्षाधारी साधु, गृह (घर) और ग्रन्थ (परिग्रह) मोह-ममत्व तथा इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित होते हैं, बाइस परिषह सहन करते है, कषायो को जीतते हैं और पापारम्भ से रहित होते है (बोध पा० ४५)

३—वे समत्व एव माध्यस्थ भाव वाले होते हैं। शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशसा, लाभ-अलाभ और तृण कचन मे उनका समभाव होता है (बोध पा० ४५)।

४—वे निर्ग्रन्थ, पर वस्तु, स्त्री आदि के सगरहित, निरभिमान, आशा-राग-द्वेष रहित, निर्मम, निर्लोभ, निर्मोह, निर्विकार, निष्कलुषित, निर्भय, निराक्षी, निरायुध, शशांत, यथाजातरूप होते हैं (बोध पा० ४६ से ५१)।

५—वे उपशम, शम, दम, युक्त होते हैं अर्थात् उनके परिणाम शान्त होते है, क्षमाशील एव इन्द्रिय विषयो से विरक्त रहते है। स्नान, तेल, मर्दन आदि शरीर सस्कार नहीं करते। मद, राग, द्वेष रहित होते है। (बो० पा० ५२)।

६—वे बारह प्रकार के अन्तर-बाह्य, तप, पांच महाव्रत, पांच इन्द्रिय एव मन का निरोध, रूप, सयम, छहकाय के जीवो की रक्षा, सम्यक्त्व आदि गुणो से युक्त और अन्तरग भावो से शुद्ध होते है (बोध पा० ५८/६०)।

७—जिनदीक्षाधारी साधु सूने घर, वृक्ष का मूल कोटर, उद्यान, वन, शमशान भूमि, पर्वत की गुफा या शिखर, भयानक वन, आदि एव शांत स्थान मे रहते हैं (बो० पा० ४२ से ४४)।

८—वे पशु-तिर्यंच, महिला, नपुसक तथा व्यभिचारी पुरुष के साथ नही रहते और शास्त्र स्वाध्याय तथा धर्म-शुक्ल ध्यान से युक्त होते है (गाथा ५७)।

९—जो साधु लोक व्यवहार के कार्य मे सोता है वह अपने आत्म स्वरूप मे सदैव जागरूक रहता है किन्तु

जो लोक व्यवहार मे जागरूक होता है वह आत्मस्वरूप मे सोता है (मोक्ष पा० ३१)।

जिनदीक्षा का आधार, पात्र, काल एवं प्रक्रिया :

जिनदीक्षा का आध्यात्मिक आधार स्वाध्याय एव तत्व-विचार है जिस पर वीतराग विज्ञान का समूचा महल अवस्थित है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की चरणानुयोग सूचक चूलिका मे श्रमण धर्म स्वीकार करने को आधार भूमि, विधि, आचरण, श्रामण्य भेद-श्रामण्य छेद, तप सामर्थ्य, निश्चय व्यवहार धर्म सहित २८ मूल गुणों का सविस्तार वर्णन किया है जो मुनिधर्म के अन्तर-बाह्य स्वरूप को दर्शाता है :—

(अ) आध्यात्मिक आधार : आगम अभ्यास तत्व विचार :

एकाग्रता की प्राप्ति के लिए पदार्थों के स्वरूप का निश्चय होना आवश्यक है जो आत्म ज्ञान एव तत्वविचार से ही सम्भव है। इसलिए 'आगमचेट्ठा तदोचेट्ठा' के अनुसार आगम व्यापार ही श्रेष्ठ है (गाथा २३२)। आगमहीन साधु न तो अपने को ही जानता है और न पर को ही। ऐसी स्थिति मे वह कर्मों का नाश किस प्रकार करेगा (गाथा २८३)। आगम के ज्ञाता साधु आगम चक्षु कहलाते हैं (गाथा २३५)। आगमहीन साधु असयमी होते हैं (गाथा २३६)। आगमज्ञान एव तत्वार्थ श्रद्धान इन दोनो सहित सयम की एकता ही मोक्ष मार्ग है (गाथा २३७)। यही कारण है कि जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों मे बालतप से खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार (मन, वचन, काय) से गुप्त होने से श्वास मात्र में खपा देता है (२३८)।

आचार्य प० टोडरमल के अनुसार 'मुनिपद लेने का क्रम तो यह है पहले तत्व विचार होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते है; परिषहादि सहने की शक्ति होती है तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्री गुरु मुनि धर्म अगीकार कराते है (मो० मा० प्र० पृष्ठ १७६)। प० जी आगे कहते है कि 'पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो, फिर तत्वों का विचार हो, फिर आपा-पर का चितवन करे फिर केवल आत्मा का चितवन करे। इस अनुक्रम से साधन करें तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर कोई जीव सिद्ध पद को भी प्राप्त कर ले (मो० मा० प्र० पृष्ठ ३३०)।

(ब) जिनदीक्षा के पात्र एवं काल :

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण का कोई निरोग, तप मे समर्थ, सुन्दर, दुराचारादि लोकापवाद से रहित पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहण करने योग्य होता है। अति बालक और अति वृद्ध को जिनदीक्षा निषिद्ध है। सब शुद्ध भी छुल्लकदीक्षा के योग्य होते है। (प्र० सा० गाथा २२५ प्रक्षेपक गाथा २६)। दीक्षाग्रहण में काल कोई बाधा नहीं है। पचम युग मे भी निर्ग्रन्थ साधु का सद्भाव स्वीकार किया है। यहा इतना विशेष है कि साधुगने बिना साधु मानकर गुरु मानने से मिथ्यादर्शन होता है (मो० मार्ग प्रकाशक पृष्ठ १६०)।

(स) दीक्षा की प्रक्रिया एवं स्वरूप :

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार मे दुःखो से छुटकारा पाने हेतु सिद्धों को प्रणाम कर मुनिधर्म अगीकार करने की प्रेरणा देते हुए निम्न दीक्षाविधि दर्शाते हैं :—

१—माता-पिता, पत्नी-पुत्र, और बन्धुवर्ग से पूछकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अगीकार करता है (गाथा २०२)।

२—कुल, रूप एव वय से विशिष्ट तथा गुणधारी श्रमणोत्तम आचार्य की शरण मे जाकर 'शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि रूप सिद्धि से मुझे अनुग्रहीत करो' ऐसा कहते हुए दीक्षाभावना प्रकट करता है। 'मै दूसरो का नही हू, पर मेरे नही है, इस लोक मे मेरा कुछ भी नही है' ऐसा निश्चयवान और जितेन्द्रिय होता हुआ नग्न दिगम्बर रूप धारण करता है (गाथा २०३/२०४)।

३—वह दाढ़ी-मूंछ के बालो का लोचकर शारीरिक शृगार से रहित यथाजात बालक जैसा होता है। वह हिंसादि, ममत्व और आरम्भ रहित उपयोग एवं योग की शुद्धि सहित होता है जो मोक्ष का कारण है (गाथा (२०५/२०६)

४—वह गुरु द्वारा वर्णित साधु क्रिया सुनकर साधु के २८ मूलगुणो को धारण करता हुआ सात्मस्थ होता है। पांच महाव्रत, पांच समिति, इन्द्रिय विजय, केश लोच, आवश्यक, अचेलकपना, अस्नान, भूमिशयन, अदतधावन

खडे-खड़े भोजन, एक बार आहार यह साधु के २८ मूल गुण हैं जिनका निरतिचार पालन करते हुए यथाशक्ति तप द्वारा आत्मा मे वीतरागता के अशो मे वृद्धि करता है (गाथा २०८/२०९)।

५—शास्त्रो के अनुसार श्रमण शुद्धोपयोगी एवं शुभोपयोगी दोनो होते है। प्रथम निराश्रव तथा शेष आश्रव सहित है। (गाथा २४५)।

जिनदीक्षा में कर्मों की नैमित्तिक पृष्ठ भूमि :

कर्म बन्ध की अवधारणा जैनदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसकी साधु दीक्षा के सदर्भ मे नैमित्तिक भूमिका समझना आवश्यक है क्योकि अनादिकाल से कर्म बध के कारण ही आत्म अश्रद्धान, अज्ञान एव असयम से दु:खी है।

सम्यग्दर्शन का प्रतिरोधक दर्शन मोह कर्म है जिसके उदय काल मे तत्वो की यथार्थ प्रतीत नही होती। सम्यग्ज्ञान का प्रतिरोधक ज्ञानावरण कर्म है जो ज्ञानगुण को आवृत करता है। सम्यग्चारित्र एव आत्म-रमणता का प्रतिरोधक कर्म चारित्र मोह है। जिसके उदयकाल मे आत्मा मे राग-द्वेष-मोह आदि की उत्पत्ति होती है और ज्ञान दर्शन स्वभाव रूप परिणमन नही हो पाता। चारित्र मोह के २५ भेद हैं। इनमे क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायो के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, एवं सज्वलन रूप सोलह भेद हुए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, वेद यह नौ कषाय हैं। अपना ज्ञाता दृष्टा स्वभाव छोडकर पर द्रव्यो मे राग-द्वेष भाव उत्पन्न करना ही कषाय का कार्य है।

आत्मा और कर्म के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों को दृष्टिगत कर करणानुयोग शास्त्रों मे जिनदीक्षा के उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख कषाय के मानदण्ड निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार है :—

१—क्रोधादि अनन्तानुबन्धी कषायो के अभाव मे आत्म श्रद्धान रूप सम्यक्त्व होता है। इसमे मर्यादित क्रोधादि तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल के विचार सहित न्याय रूप प्रवृत्ति अव्रती श्रावक की होती है।

२—क्रोधादि अप्रत्याख्यानादि कषायों के अभाव मे देश सयम (अणुव्रत) होता है। इसमे तुच्छ सी क्रोधादि की प्रवृत्ति व्रती श्रावक की होती है।

३—क्रोधादि प्रत्याख्यानादि कषायों के अभाव मे मुनिधर्म रूप सकल चारित्र होता है। इसमे मदतर क्रोधादि का सद्भाव होता है।

४—क्रोधादि सज्वलनादि कषायो के अभाव में यथाख्यात चारित्र होता है। इसमे उत्तर गुणों के दोषों का भी अभाव हो जाता है।

यदि श्रावक अन्याय रूप प्रवृत्ति एव अमर्यादित क्रोधादि करे तथा निर्ग्रन्थ साधु बुद्धिपूर्वक या सप्रयोजन क्रोधादि से पीडित हो, तब उसमे स्पष्ट होता है कि उन्होने अपनी पात्रता से अधिक ऊचा पद ले रखा है जो जिनदीक्षा की प्रक्रिया एव मर्यादा के प्रतिकूल है।

कर्म बन्धन से मुक्ति :

आत्म साधक बुद्धिपूर्वक आगम-स्वाध्याय, तत्त्वविचार, एव आत्मचिन्तन की प्रक्रिया मे जब उपयोग लगाता है तब परिणामो की विशुद्धता के कारण मोह कर्म की स्थिति एव अनुभाग स्वमेव ही घटते है। मोह का अभाव होने से शक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन, देश संयम या सकल चारित्र अगीकार करने का पुरुषार्थ प्रकट होता है। इस प्रकार कषायों के उत्तरोत्तर अभाव एव उससे उत्पन्न भाव शुद्धि से क्रमश अव्रती-श्रावक, व्रती-श्रावक एव मुनि-धर्म धारण करने का पुरुषार्थ प्रकट होता है।

द्रव्यलिंगी साधु से व्रती-अव्रती श्रावक की श्रेष्ठता :

जिनवरों के मार्ग में भावों की ही प्रधानता है। द्रव्यलिंगी साधु मन्द कषायपूर्वक कठोर तपस्या करता हैं और २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करता है फिर भी सम्यग्दर्शन के अभाव मे, नवमे ग्रेवेयक तक जाकर फिर ससार भ्रमण करता है, जबकि अव्रती एव व्रती सम्यग्दृष्टि सोलहवें स्वर्ग तक जाकर भी मोक्ष का अधिकारी होता है।

प्रवचनसार मे आत्म-ज्ञान शून्य सयम भाव को अकार्यकारी कहा (गाथा २३९)। मिथ्यात्व एव अन्य सहित यदि कोई मुनि भेष धारण करता है तो भी वह श्रावक के समान भी नही है (भा० पा० १५५) भाव

(शेष पृ० ८ पर)

जिनके अवतरण से विदिशा पावन हो गया :—

"तीर्थङ्कर शीतलनाथ"

श्री गुलाबचन्द्र जैन

(पृ० ७ का शेषांश)

रहित नग्नत्व के अकार्यकारक होने से निरतर आत्मा की भावना भाने का उपदेश दिया है (भा० पा० ५५)।

उपसंहार :

आचार्य कुन्दकुन्द के जिनदीक्षा से सम्बन्धित उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन मार्ग मे जिनदीक्षा एक विशिष्ट प्रतिज्ञा एव पद है जिसका उद्देश्य कर्म क्षय एव आत्मा मे वीतरागता प्रकट करना है। वह मात्र नग्नत्व ही नही आत्मा की निर्मलता एव अन्तरंग शुद्धि का बाह्य प्रतीक भी है। जिनदीक्षा की प्रक्रिया आगम ज्ञान, तत्व-विचार, आत्मस्वरूप-चितन, आत्मानुभूति एव देशव्रत आदि के विभिन्न स्तरों को पार करती हुई निर्ग्रन्थ साधु तक जाती है जहा साधक पल-प्रतिपल अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप मे सम्पर्क करता परम आनन्द की अनुभूति करता है।

जो आत्म साधक सही अर्थों मे जिनदीक्षा धारण करना चाहते है या अपने को जिनदीक्षित मानते है उन्हे उक्त आदर्शों, मानदण्डो एव क्रिया-प्रक्रिया का अन्तरग भाव सहित आलम्बन करना चाहिए यही जिनाज्ञा है।

कार्मिक प्रबन्धक
ओरियन्ट पेपर मिल्स, अमलाई

पुष्कर वर द्वीप के विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक एक देश था। (इक्ष्वाकु) कुलभूषण महाराज पद्मगुल्म थे उस प्रदेश के शासक और सुसीमा नामक नगरी थी उसकी राजधानी। वसत ऋतु मे महाराज पद्मगुल्म अपनी रानियो के साथ वनक्रीड़ा हेतु गया हुआ था। वृक्षो के झड़ते हुए पत्तो को देख उसे ससार की क्षणभगुरता का ज्ञान हुआ साथ मे वैराग्य भी जाग्रत हुआ। वैराग्य मे वृद्धि होने पर पद्मगुल्म अपने चन्दन नामक पुत्र को राज्य भार सौंप वन मे जा आनन्द नामक मुनि से दीक्षा ले तप मे लीन हो गए। निरन्तर तप करते हुए उन्होने ग्यारह अगों का मनन एव षोडसकारणादि भावनाओ का चिंतन किया और फलस्वरूप तीर्थङ्कर प्रकृति का बध किया। आयु का अन्त जान समाधिमरण पूर्वक देह त्याग वे आरण नामक पन्द्रहवे स्वर्ग मे इन्द्र हुए।

इसी इन्द्र का जीव भरत क्षेत्र के मलय नामक नामक देश के भद्रिलपुर नामक नगर में इक्ष्वाकु कुलभूषण महाराज दृढ़रथ की रानी सुनंदा के गर्भ मे, पूर्वाषाढ नक्षत्र चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन अवतरित हुआ। गर्भ मे आने के पूर्व महारानी सुनदा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह उत्तम स्वप्न देखे और अंत मे एक विशाल गज को अपने मुंह मे प्रवेश करते देखा, इन स्वप्नो का फल था एक महान आत्मा का आगमन समय की गरिमा का अनुभव कर देवताओ ने भी रत्नो की वर्षा कर गर्भ-कल्याणक उत्सव मनाया।

गर्भकाल समाप्त होने पर माघ कृष्ण द्वादशी के दिन विश्वयोग मे बालकका जन्म हुआ। सम्पूर्ण नगर हर्षोल्लास मे डूब गया। सौधर्म इन्द्र ने भी अति आनद पूर्वक बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया। वही राजेन्द्र ने भी भक्ति विह्वल हो ताण्डव नृत्य किया। बाल जिन का नाम शीतलनाथ रखा गया।

श्री शीतलनाथ के यौवनावस्था मे पदार्पण करते ही महाराज दढ़रथ ने उनका राज्याभिषेक कर स्वय दीक्षा ले मुनिपद धारण कर लिया। महाराज शीतलनाथ एक दिन वन विहार हेतु वन मे गये हुए थे। सर्वत्र घना कोहरा छाया हुआ था, कुछ भी दिखाई नही देता था। तभी सूर्योदय होते ही सारा कोहरा नष्ट हो गया। यह देख उनके मन मे विचार आया कि कोहरे के समान यह

सारा संसार ही नाशवान है। वैराग्यपूर्ण भावनाओं मे वृद्धि होने लगी। तभी लौकान्तिक देवो ने स्वर्ग से आकर उनकी वंदना की और उनके वैराग्यपूर्ण विचारों की सराहना की। यह माघ कृष्ण द्वादशी के सायंकाल का समय था। महाराज शीतलनाथ तत्काल ही अपने पुत्र को राज्य सौंप शुक्रप्रभा नामक पालकी पर आरूढ़ हो नगर के बाहर वन में पहुंच, दो दिन के उपवास का व्रत ले, संयम धारण कर ध्यान मे लीन हो गए। उनके साथ अनेक राजाओं ने भी संयम धारण किया।

दीक्षा लेते ही उन्हे मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो गया। दो दिन के तपश्चरण के बाद वे चर्या हेतु अरिष्टनगर पहुंचे। वहाँ के राजा पुनर्वसु ने नवधा भक्ति पूर्वक उन्हे आहार दिया। उस मंगल वेला मे देवो ने रत्न वर्षा की। आहार के पश्चात् मुनि शीतलनाथ पुनः घोर तप मे लीन हो गए। तीन वर्ष के तपश्चरण के पश्चात् बेल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ उन्हे पौष कृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र मे सायंकाल के समय केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। देवताओं ने आकर भगवान के ज्ञानकल्याणक की पूजा कर समवशरण की रचना की। भगवान की दिव्य वाणी श्रवण करने देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि सभी अपने-अपने स्थान पर आ बैठे। भगवान की दिव्यवाणी को सभी ने पूर्ण मनोयोग से सुना। इसके पश्चात् उनका धर्मचक्र प्रवर्तन प्रारम्भ हो गया।

अनेक देशो मे भ्रमण करते हुए उन्होंने भव्य जीवों को आत्मकल्याण का उपदेश दिया। अन्तिम समय श्री सम्मेद शिखर पहुंच, योग निरोध सहित प्रतिमा योग धारण कर आश्विन शुक्ल अष्टमी के मंगल दिवस, सायंकाल की वेला मे, पूर्वाषाढ़ नक्षत्र मे समस्त कर्मों का नाश कर परम मोक्षपद प्राप्त किया। देवो व नर-नारियो उत्साह एवं मनोयोग पूर्वक भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया जयनाद से सम्पूर्ण धरती और गगन गुंजायमान हो उठा।

तीर्थङ्कर शीतलनाथ का शरीर स्वर्ण वर्ण नब्बे नब्बे धनुष ऊँचा था। आयु थी एक लाख वर्ष पूर्व। इनका चिन्ह श्री तरु कल्प-वृक्ष है। ब्रह्म यक्ष इनके सेवक व मानवी यक्षिणी इनकी सेविका हैं।

भद्रिलपुर विदिशा :

तीर्थङ्कर शीतलनाथ की जन्मभूमि भद्रिलपुर, भद्रपुर वर्तमान विदिशा (मध्यप्रदेश) है। इसी पावन नगर मे भगवान शीतलनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा एवं तप —चार कल्याणक सम्पन्न हुए है। इस बात की पुष्टि के लिए अनेकों शास्त्रीय व शिलालेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं। अहिंसा वाणी के पूर्व प्रकाशित "ती० शीतल श्रेयास व वासुपूज्य" विशेषाक मे सर्वश्री अगरचन्द नाहटा, हेमचन्द शास्त्री, सत्यधर सेठी, डा० कालीचरण सक्सेना, डा० दिगम्बरदास मुख्त्यार, प० मोतीलाल मार्तंड आदि ने भद्रपुर या भद्दिलपुर को ही तीर्थङ्कर शीतलनाथ की जन्म भूमि स्वीकार किया है। बरो (बड़नगर) के विशाल जैन मन्दिरों मे सोलह तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ स्थापित है। यहाँ के शिलालेखो मे वीशनगर (भेलसा-विदिशा) को भगवान शीतलनाथ का जन्म स्थान लिखा है। डा० कामताप्रसाद तथा डा० हीरालाल ने भी अपने लेखो मे विदिशा को भद्दिलपुर स्वीकार किया है। आगम से भी यही प्रमाणित होता है। अहिंसा वाणी के उक्त अंक मे गुलाबचन्द पाड्या लिखते है—"दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ स्वामी के गर्भ जन्म व तप-कल्याणक विदिशा (भद्दिलपुर) मे हुए थे।" विदिशा की दक्षिणी सीमा स्थित उदयगिरि पर्वत की बीसवी गुफा म भगवान शीतलनाथ के चमत्कारी चरण स्थापित है। विदिशा मे प्राप्त प्राचीन शिलालेखों म भी विदिशा का नाम भद्दिलपुर व भद्रावती आया है।

विदिशा का प्राचीन गौरव :

महाकवि कालिदास ने "मेघदूत" नामक काव्य मे दशार्ण जनपद की राजधानी विदिशा का वर्णन किया है। उस काल मे दशार्ण जनपद की पहिचान विदिशा के आस पास के प्रदेश से की जाती थी। आदिपुराण मे जिस दशार्ण प्रदेश का वर्णन आया है वह यही है। ईस्वी पूर्व २ से ५ शताब्दी तक दशार्ण जनपद बहुत समृद्ध था और इस देश की राजधानी विदिशा भी अत्यन्त सम्पन्न एवं सुन्दर वातावरण से युक्त थी। ('आदिपुराण मे भारत" - लेखक डा० नेमिचन्द्र शास्त्री') डा० हासकारी का मत है कि भद्दिलपुर वर्तमान पृ० ५६ विदिशा ही है। ईसा पूर्व छठवी शताब्दी मे इस भूभाग का यही नाम प्रचलित

है। ईसा पूर्व ३६४वें वर्ष में आचार्य भद्रबाहु अपने मुनि संघ सहित पधारे थे और उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को जो उस समय यहीं थे, उपदेश दिया था। (ग्वालियर गजेटियर—प्रथम भाग)। महाभारत मे उल्लिखित दशार्ण प्रदेश विदिशा के आसपास का ही प्रदेश है। "त्रिषष्टि शलाका पुरुष" के अनुसार भगवान महावीर का समवशरण विदिशा आया था। तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समवशरण के विदिशा पधारने का भी आगम मे उल्लेख है। स्वामी समन्त भद्राचार्य ने विदिशा मे हुए वाद-विवाद में अजैनो को परास्त कर उन्हें जैन धर्म में दीक्षित किया था। इस सम्बन्ध मे जैन बद्री के एक शिलालेख का यह श्लोक पठनीय है :—

पूर्वं पाटलिपुत्र नाम नगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालभव सिधु ढक्क विषये कांचीपुरी वैदिशे ॥
प्राप्तोह करहाटक बहुभटैर्विद्योत्कटैः सकटम्।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते, शार्दूल विक्रीडितम् ॥

पाली ग्रन्थों मे इस स्थान का नाम बेसनगर या चैत्येनगर दिया गया है। बारहवी शताब्दी के चालुक्य काल मे इसका नाम भैल्ल स्वामिन हो गया था। ब्राह्मण ग्रन्थो मे इसका नाम भद्रावती या भद्रपुर लिखा गया है। ईसा की पहली शताब्दी मे यहाँ नागों व सातवाहनो का राज्य था। एक पौराणिक कथा के अनुसार यहाँ हैहयवंशी शासको का भी राज्य रहा है। रामायण से पता चलता है कि राम के लघु भ्राता शत्रुघ्न ने इस प्रदेश को यादवो से मुक्त कर अपने पुत्र सुबाहु को इस प्रदेश का शासक नियुक्त किया था। सम्राट अशोक को तो विदिशा बहुत ही प्रिय थी। उन्होंने यहा की एक वणिक कन्या से विवाह किया था और और बहुत समय तक यहाँ निवास भी किया था। भरहुत के प्राचीन शिलालेखो मे भी विदिशा का उल्लेख मिलता है।

श्वेताम्बर ग्रन्थ "त्रिषष्टि शलाका पुरुष" के अनुसार यहाँ जैन धर्म का सर्वाधिक प्रसार अशोक के पौत्र सम्प्रति के शासन काल मे हुआ था। इसी काल मे अवंति के शासक चड प्रद्योत ने सिंधु सौवीर नरेश उदयन की एक सुन्दर दासी का अपहरण कर लिया। दासी अपने साथ वहाँ प्रतिष्ठित 'जीवन्त स्वामी' की प्रतिमा भी चुरा कर ले आई। पता चलने पर उदयन ने चंडप्रद्योत पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना लिया। पश्चात चण्डप्रद्योत ने मुक्त होने पर जीवन्त स्वामी की वह प्रतिमा विदिशा मे स्थापित कर दी। यह प्रतिमा भगवान महावीर स्वामी की थी। बाद मे चन्दनकाष्ठ निर्मित यह प्रतिमा यहाँ कई वर्षों तक विराजमान रही।

भगवान नेमिनाथ ने गिरनार पर्वत पर ५६ दिनों तक दुर्धर तप कर ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् विहार हुए उन्होंने अपना पहला उपदेश यादवों को दिया। पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन करते हुए वे भद्दिलपुर पधारे और देवकी के छह पुत्रो को - जो कस के भय से विदिशा के एक वणिक के यहाँ छिप कर पल रहे थे - दीक्षा दी। (गिरनार गौरव - डा० कामताप्रसाद)। भगवान महावीर के समवशरण एवं दशार्णपुर—विदिशा के शासक दशार्णभद्र द्वारा उनके अभूत पूर्व स्वागत की गाथा भी ग्रन्थो मे प्राप्त है। उसमे यह भी उल्लेख है कि महाराज दशार्णभद्र ने भगवान के समवशरण मे मुनि दीक्षा लेकर घोर तप किया था। शुंग गुप्त एवं परमार काल मे विदिशा मे जैन संस्कृति के विकास की गाथा आज भी काफी विस्तार से इतिहास मे उपलब्ध है।

उदयगिरि :

विदिशा से पाच किलो दूर मन्दिर दक्षिण दिशा मे बेत्रवती व बेस नदियो के मध्य विध्याचल पर्वत माला का एक भाग उत्तर दक्षिण दिशा मे स्थित है। यही पवन शृंखला उदयगिरि नाम से जानी जाती है। पुराणो मे इसके अनेक नाम पाए जाते है। वैदिश गिरि, चैत्यगिरि, रथावर्त कुंजरावर्त एवं दशार्ण कूट आदि अनेक नामो से इसका समय-समय पर उल्लेख मिलता है। आर्यवज्र स्वामी के कुंजरावर्त पर्वत पर तप कर मोक्ष प्राप्त किया था। धर्मामृत ग्रन्थ के अनुसार धनद नामक मुनिराज ने भी विदिशा के निकट उदयगिरि पर तपस्या की थी।

उदयगिरि दो किलो मीटर लम्बी है। इसकी अधिकतम ऊँचाई ३५० फुट है। इसके पूर्वी ढाल पर पर्वत को काट कर या प्राकृतिक शैलाश्रयों का सहारा लेकर बीस गुफाओ का निर्माण किया गया है। इनमे गुफा नं० १ व

२० स्पष्ट रूप से जैन गुफाएँ हैं। इन गुफाओं का निर्माण गुप्तकाल—ईसा की पाचवी शताब्दी मे हुआ था। स्थापत्य कला की दृष्टि से गुफा न० एक की गणना देश मे प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन गुफाओं मे की जाती है। इस गुफा के गर्भगृह मे, पश्चिमी दीवार पर प्रभामण्डल युक्त तीर्थङ्कर प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे उत्कीर्णित थी जो वर्तमान में काल के प्रभाव, असुरक्षा एव धार्मिक विद्वेष के कारण पूर्णत नष्ट हो चुकी है। प्रतिमा का प्रभामण्डल मात्र शेष है। इसी के समीप पाषाण निर्मित, पाच सर्प फणो से सुशोभित, कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की, साढे चार फुट ऊँची प्रतिमा स्थापित है। इसके सिर पर छत्र है व दोनो पार्श्वों मे आकाश मे उड़ते हुए गन्धर्व हाथो मे पुष्पमाला लिए अकित है। अधोभाग मे दो पद्मासन व दो खड्गासन मूर्तिया दोनो ओर निर्मित है। इनके नीचे ललितासन मे तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की शासन देवी 'मानवी' अकित है। देवी के दोनो ओर भक्त-स्त्री पुरुष सिर झुकाए खडे है। गुफा का बाह्यमडप चार स्तम्भो पर आधारित है व छत का कार्य एक प्राकृतिक प्रस्तर शिला करती है।

गुफा न० २० गिरिमाला के उत्तरी छोर पर शिखर से कुछ नीचे स्थित है। तलहटी से सीढ़ियां चढ़कर यहाँ पहुंचा जाता है। ऊपर एक चट्टानी पठार-सा है। इसके दाहिने सिरे पर एक द्वार है जिसमे से १४ १५ सीढ़िया नीचे उतर कर गुफा के अन्तर्भाग मे पहुचते हैं। इस भाग मे दाहिनी ओर दीवार के मध्य में एक आलेनुमा वेदी मे भगवान शीतलनाथ के सातिशय चरण विराजमान है। चरण के समीप तीर्थङ्कर आदिनाथ की तीन फुट ऊँची एक पद्मासन प्रतिमा स्थापित है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग मे भामण्डल व वक्ष पर श्रीवत्स का अकन है।

इस गुफा का बाह्य कक्ष सामने से खुला है। कक्ष की बायी ओर दाहिनी दीवार पर द्वार के दोनो ओर दो-दो पद्मासन तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ, पाषाण शिला पर, भूमि से लगभग चार फुट ऊपर उत्कीर्णित है। दोनों ओर चमरेन्द्र खडे है। विधर्मियो द्वारा नष्ट कर दिए जाने से आज इनका आभास मात्र शेष है। दक्षिणी ओर एक पाषण चौकी पर साढ़े चार फुट ऊँची, भूरे रग के पाषाण मे निर्मित तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की एक अति भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। मस्तक के ऊपर सप्त फणावलि है। इसके ऊपर छत्रत्रयी है छत्र के ऊपर दुदुभिवादक व शीर्ष पर एक और तीर्थङ्कर प्रतिमा का अकन है। दोनो पार्श्वों मे विभिन्न वाद्य लिए गन्धर्व है। मध्य मे दोनो ओर दो-दो पद्मासन लघु आकार जिन प्रतिमाएँ है। अधोभाग मे देव माला लिए गज अकित है। वक्ष पर सुन्दर श्रीवत्स चिन्ह निर्मित है। प्रतिमा के कुछ भाग खण्डित हो गए है।

बाह्य कक्ष के दक्षिण भाग मे प्रवेश स्थान के समीप शिला पट्ट पर १२ इच चौडा व १० इंच लम्बा एक लेख अकित है। इसका लेखन गुप्त सवत १०६ (ईस्वी सन ४२६) मे हुआ था। इस लेख से ज्ञात होता है कि 'गुप्त नरेश कुमार गुप्त के शासन काल मे शकर नामक व्यक्ति ने इस गुफा मे सर्पफणो से मण्डित भगवान पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा का निर्माण कराया था। आठ पक्तियो वाला यह लेख इस प्रकार है :—

१. नम. सिद्धेभ्यः (॥) श्री सयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयाना नृप सत्तमाना।

२. राज्ये कुलस्याभिविवर्धमाने षड्भिर्युते वर्षशतेऽथमासे (॥) सुकार्तिके बहुलदिनेऽथ पचमे।

३. गुहामुखे स्फुटविकटोत्कटामिमा जितद्विषो जिनवर पार्श्वसंज्ञिका जिनाकृतिं शमदमवान—

४. चीकरत (॥) आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलोद्गतस्य आचार्यगोशर्म—

५. र्म्ममुने. सुतस्तु पद्मावतावश्वपतेर्भटस्य (॥) परैरजस्य रिपुघ्न मानिनस्स सघि—

६. लस्येत्यभिविश्रुतो भुवि स्वसज्ञया शंकरनाम-शब्दितो विधानयुक्त यतिमा—

७. र्गमास्थितः (॥) स उत्तराणा सदृशे कुरुणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूत.—

८. क्षयाय कर्मारिगणस्य धीमान यदत्रपुण्य तदपास-सर्ज्ज (॥)

अर्थात्—सिद्धो को नमस्कार हो। वैभव सपन्न गुणों के समुद्र, गुप्तवश के राजाओ के राज्य मे, सवत् १०६ के कार्तिक मास कृष्ण पचमी के दिन, गुफा के मध्य, विस्तृत

सर्प फणों से युक्त, शत्रुओं को जीतने वाले, जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की प्रतिमा, शमदमयुक्त शकर नामक यति ने बनवाई जो आचार्य भद्र भूषण आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि का शिष्य था। दूसरो के द्वारा अजेय, शत्रुओं का विनाश करने वाले अश्वपति संघिलभट और पद्मावती का पुत्र था। शकर इस नाम से विख्यात और यति मार्ग मे स्थित था। वह उत्तरकुरुओ के सदृश उत्तर उत्तर दिशा श्रेष्ठ देश मे उत्पन्न हुआ था। उसके इस पावन कार्य मे जो पुण्य हो वह कर्म रूपी शत्रुओ के क्षय के लिए हो।

विदिशा उदयगिरि मार्ग के मध्य दुर्जनपुरा नामक स्थान से कुछ वर्ष पूर्व तीन पद्मासन प्रतिमाएँ हल चलाते हुए प्राप्त हुई थी। चौथी सदी ईस्वी में निर्मित ये प्रतिमायें महाराज रामगुप्त के काल की है। इनमे एक प्रतिमा तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ व दूसरी पुष्पदंत की है। तीसरी प्रतिमा के खंडित होने से उसका चिन्ह व लेख नष्ट हो चुका है। मूर्ति के नीचे अंकित लेखो मे महाराजाधिराज रामगुप्त का नाम अंकित है। ये प्रतिमाएँ प्रारम्भिक गुप्तकाल का प्रतिनिधित्व करती है एवं इनका समकालीन मथुरा कला से काफी साम्य है। प्रतिमा के पाद मूल मे उत्कीर्ण लेखों से रामगुप्त द्वारा जैन धर्मावलम्बन एवं जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था प्रकट होती है।

इसी क्षेत्र मे एक स्तम्भशीर्ष भी प्राप्त हुआ है जिस पर कल्पवृक्ष की अनुकृति उत्कीर्णित है। कल्पवृक्ष एक चौकी पर स्थित है व इसकी ऊँचाई ५ फुट ९ इच है। वृक्ष पर मुद्राओ से भरे पात्र एव लटकती हुई थैलियाँ इसके कल्पवृक्ष नाम को सार्थक करती है। वर्तमान मे यह शीर्ष कलकत्ता के भारतीय कला संग्रहालय मे प्रदर्शित है। कल्पवृक्ष तीर्थङ्कर शीतलनाथ का लांछन है। यह स्तम्भ एवं अनेक दिगम्बर जैन विशाल प्रतिमाएँ जो यहाँ प्राप्त हुई हैं--इस तथ्य को सुनिश्चित करती है कि यहाँ प्राचीन काल मे तीर्थङ्कर शीतलनाथ का एक विशाल मन्दिर था जिसमे ये प्रतिमाएँ विराजमान थी व उसी जिनालय के समक्ष यह कल्पवृक्ष निर्मित शीर्ष सहित स्तम्भ स्थापित था।

तीर्थङ्कर शीतलनाथ के निर्वाण दिवस--आसोज वदी अष्टमी को स्थानीय जैन समाज एक मेलेके रूप मे भगवान की तपोभूमि उदयगिरि पर एकत्रित होकर एवं गुफा नं० २० में विराजमान उनके चरणो का भक्ति-भाव पूर्वक पूजन अर्चन कर तथा लड्डू चढा कर उनका निर्वाण महोत्सव मनाता है। इस पावन अवसर पर उदयगिरि एवं आस-पास का सम्पूर्ण वन प्रदेश भगवान श्री शीतलनाथ के जयघोष से गूंज उठता है।

विदिशा की अति प्राचीन जैन सांस्कृतिक गौरवशाली परम्परा, विदिशा में निर्मित दस जिनालयों मे श्री शीतलनाथ नामांकित दो जिनालय जिनमे किले मे निर्मित—'श्री शीतलनाथ जैन मन्दिर" अति विशाल एव लगभग २५० वर्ष प्राचीन है, उदयगिरि गुफा न० २० मे विराजमान भगवान के सातिशय चरणचिन्ह तथा ५०-६० वर्षों से आयोजित निर्वाण दिवस मेला, अनेक शास्त्रीय प्रमाण एव अनेक इतिहास विज्ञ विद्वानो का अभिमत—सब मिलकर भद्दिलपुर—वर्तमान विदिशा को तीर्थङ्कर शीतल नाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा व तप चार कल्याणको की पावन भूमि होने का गौरव प्रदान करते है।

वर्तमान कालिक परम सत आचार्य श्री विद्यासागर एव उनके परम शिष्य मुनि श्री क्षमासागर, प्रमाणसागर, समता सागर के आशीर्वाद से आगामी कुछ ही वर्षों मे विदिशा अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने जा रहा है।

—राजकमल स्टोर्स
विदिशा

अमृत-वचन

जीवन में वचनों का सर्वाधिक महत्त्व है जब हम अपने विचार प्रकट करते हैं तो वे दूसरों पर प्रभाव डालते हैं और हमारे मन के छिपे भावों का प्रकटोकरण करते हैं। वचनों में अगाध शक्ति होती है। कहा भो है :—

वाणी ऐसो बोलिए, मन का आपा खोय। औरन को शीतल करे, आपे शीतल होय॥

यह कितना सुन्दर कथन है हमें आठ मदो से रहित होकर हित-मित-भाषी वचन बोलना चाहिए। जिनको बोलने से स्वयं शीतलता मिलती है तथा दूसरों को भी शीतलता प्राप्त हो जाती है।

चन्देलकालीन मदनसागरपुर के श्रावक

❐ प्रो० यशवंत कुमार मलैया

ई० ८८४ में ग्राम दहकना में एक प्राचीन जैन मन्दिर के खंडहर प्राप्त हुए थे। खुदाई से इसके आस-पास अन्य चैत्यो के अवशेष भी मिले थे। यह स्थान आज पुनः विकसित होकर अहार तीर्थ क्षेत्र के नाम से विख्यात है। इस स्थान के ऐतिहासिक महत्व को पहचाना नही गया है। बुन्देलखड में ही नही, सम्पूर्ण भारत मे सभवतः कोई अन्य स्थान नही है जहाँ ग्यारहवी से तेरहवी सदी के बीच इतनी दूर-दूर से श्रावको ने आकर प्रतिष्ठा कराई हो। यहां प्राप्त लेखो से न केवल श्रावको की ज्यातो (अन्वयो) के इतिहास पर प्रकाश पडता है बल्कि चंदेल राजवशो मे हुए उतार-चढाव के भी प्रमाण मिलते है। जैन साधुओ की एक निकाय के बारे मे भी पता चलता है कि जिस पर अभी कोई अध्ययन नही हुआ है[१]।

गुहिलोत (सिसोदिया) कुल की तरह चदेल भी ब्रह्म क्षत्रिय थे[२]। यह वश नवमी शती के मध्य मे उत्पन्न हुआ और इनका राज्य किसी न किसी रूप मे १४वी शताब्दी के आरम्भ तक चला। पहले ये प्रतिहारो के माडलिक थे, दसवी शती मे यशोवर्मन ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नवमी सदी मे हुए जयशक्ति या जेजा के नाम पर इनका राज्य जेजामुक्ति या जजहुति कहलाता था। इनकी राजधानी पहले खजुराहो थी, बाद मे महोबा मे हुई। खजुराहो को कभी मुसलमानो ने नही जीता, अतः यहाँ के बहुत से मन्दिर आज भी खड़े हैं।

अलग अलग लेखको ने चन्देल राजाओ के राज्य-काल के अलग अलग अनुमान लिखे हैं[३,४,५]। नीचे लिखे राजाओ के ताम्रशासन या समकालीन उल्लेख शिला-लेखों मे प्राप्त हुए है। प्राप्त लेखों के सवत दिए हुए हैं[६]।

धग : सं० १०११-१०५६ (ई० ९५४-१००२)

देववर्मन : स० ११०७-११०८ ई० १०५०-१०५२)

कीर्तिवर्मन : स० ११३२-११५४ (ई० १०७५-१०९७)

जयवर्मन : स० ११७३ (ई० १११६)

मदनवर्मन : सं० ११८६-१२२० (ई० ११२९-११६३)

परमार्दि : स० १२२३-१२५८ (ई० ११६६-१२०१

त्रैलोक्यवर्मन : स० १२६१-१२९८ (ई० १२०४ १२४२)

वीरवर्मन : स० १३११-१३४२ (ई० १२५४-१२८५)

भोजवर्मन स० १३४५-१३४६ (ई० १२८८-१२८९)

हम्मीरवर्मन : स० १३४६-१३६५ (ई० १२८९-१३०८)

वीरवर्मन (दूसरे) . स० १३७२ (ई० १३१५)

गड, विद्याधर, विजयपाल, सल्लक्षणवर्मन, पृथ्वी-वर्मन व यशोवर्मन के समकालीन उल्लेख नही मिले हैं।

वर्तमान अहार का प्राचीन नाम मदनसागरपुर था। यह नाम मदनवर्मन के शासन काल मे हुआ। स० १२०९ के एक लेख मे यह नाम है[७]। मदनवर्मन के पूर्व की भी दो प्रतिमाये (स० ११२३ व स० ११३१) यहाँ हैं। सं० १३३२ तक की प्राचीन प्रतिमाये यहाँ है। सं० २०१४ (ई० १९५८) मे यहाँ पुनः प्रतिष्ठायें हुई थी। सं० १५२४ से स १८९६ की प्रतिमाये भी यहाँ हैं, पर वे अन्यत्र से लाई गई मालूम होती है।

स० ११२३ व ११३१ की प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा किसके राज्यकाल मे हुई यह स्पष्ट नही है। देववर्मन के सिंहासन पर बैठने के बाद कभी चेदि के कलचुरिवश के लक्ष्मीकर्ण (या कर्ण) ने आक्रमण करके चदेलों के राज्य के बडे भाग पर अधिकार कर लिया[८]। सभवत. देव-

वर्मन ने किसी कारण से गद्दी छोड़ दी व उसके छोटे भाई कीर्तिवर्मन को राज्य मिला। यह हमारा अनुमान है कि देववर्मन दीक्षित होकर मूलसंघ-देशीयगण के साधु बनकर दक्षिण चले गये वहाँ गोल्लाचार्य कहलाये। कीर्तिवर्मन के राज्यकाल में चन्देलो ने अपनी खोई भूमि पुनः पा ली। महोबा के एक कुएँ मे कई जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई थी, जिनमे से दो पर संवत ८२१ व ८२२ अंकित है। हमारे अनुमान से इनकी स्थापना उस समय हुई थी जब महोबा पर कलचुरि कर्ण का आधिपत्य था, और इनका संवत कलचुरि संवत है। कलचुरि संवत विक्रम संवत के ३७५ वर्ष बाद हुआ था, अत ये प्रतिमाये विक्रम स० ११९६ व ११९७ की है। अतः हमारा अनुमान है कि इसी समय के आसपास देववर्मन ने राज्य त्यागा होगा।

मदनसागरपुर मे प्रतिष्ठित प्रतिमाओ को अलग-अलग चन्देल राज्यो के राज्यकाल के अनुसार बाँटा जा सकता है। यहाँ नीचे प्रतिष्ठापको के अन्वय का उल्लेख किया गया है।

देववर्मन का राज्यकाल
स० ११२३ : देउवाल
कीर्तिवर्मन का राज्यकाल :
स० ११३१ : अज्ञात

मदनवर्मन का राज्यकाल :

सं० ११९९, चैत्र सु० १३ . २ गर्गराट, १ महिषणपुर-पुरवाड
स० १२००, आषाढ व ८ · १ जैसवाल, १ महेषगउ, १ अज्ञात
सं० १२०२, चैत्र सु० १३ : १ लमेचू, गोलापूर्व
स० १२०३, आषाढ़ सु० २ · १ गोलापूर्व व गृहपति संयुक्त, १ गृहपति व वैश्य संयुक्त, १ साधु
स० १२०३, माघ सु० १३ · ३ दो-दो जैसवालो द्वारा संयुक्त, गोलापूर्व, १ वैश्य, ४ अज्ञात, १ साधु
स० १२०३, तिथिहीन अज्ञात
स० १२०७, आषाढ ब ६ · १ गृहपति व पोरवाल संयुक्त
स० १२०७, माघ ब ८ : ४ गृहपति, १ १ जैसवाल, १ माधुव, साधु
सं० १२०९, आषाढ़ ब० ४ : २ जैसवाल
सं० १२०९, आषाढ़ ब० ८ : १ जैसवाल
स० १२१०, बैसाख सु० १३ : २ पौरपट्ट, १ लमेचू, ३ गृहपति, १ जैसवाल, २ मडडितवाल (या मेडतवाल)
स० १२१०, तिथिहीन . १ अज्ञात
सं० १२११, फागुन सु० ८ : १ माथुर, १ अज्ञात
स० १२१२, तिथिहीन : १ अज्ञात
स० १२१३, आषाढ़ सु० २ : १ गोलापूर्व, २ गहपति, २ अज्ञात
सं० १२१३, तिथिहीन . १ माधु, ३ साधु
स० १२१४, फागुन ब० ४ . १ अवधपुरा
स० १२१६, आषाढ ब० ८ : १ जैसवाल
सं० १२१६, माघ सु० १३ · १ खडेलवाल, २ जैसवाल, ३ साधु
स० १२१६, फागुन ब० ८ : १ जैसबाल
स० १२१८, तिथिहीन : गोलापूर्व

परमार्द्धि का राज्यकाल :

स० १२२३, बैशाख सु० ८ खडेलवाल
स० १२२५, ज्येष्ठ सु० १२ . १ साधु
स० १२२५, तिथिहीन : १ अज्ञात
स० १२२८, फागुन सु० १२ . १ जैसवाल
स० १२३०, फागुन सु० १३ : १ अज्ञात
स० १२३७, माघ सु० ३ : १ गृहपति, ३ गोलापूर्व, १ गोलाराड, २ खडेलवाल, १ अवधपुरा, २ अज्ञात
स० १२३७, तिथिहीन . १ अज्ञात

त्रैलोक्य वर्मन का राज्यकाल :

स० १२८८, माघ सु० १३ · १ गोलापूर्व व गृहपति संयुक्त

वीरवर्मन का राज्यकाल :

स० १३२०, फागुन सु० १३ : १ अज्ञात
स० १३३२, आषाढ़ ब० २ १ अज्ञात
अज्ञातकालीन : १ खडेलवाल, १ जैसवाल, २ अज्ञात

यहाँ ऊपर जिन प्रतिमाओ मे श्रावको के नाम नही है, पर दीक्षित साधुओ के नाम है, उन्हे साधु लिखा है।

मदनसागरपुर का क्या महत्व था? यहाँ इतनी

अधिक प्रतिष्ठायें क्यों हुई थी? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देने मे हम समक्ष नहीं है। यह एक रहस्य ही है।

इस क्षेत्र मे बसने वाली सबसे पुरानी ज्ञातें गृहपति व गोलापूर्व है। गृहपति जैजाभुक्ति मे सम्भवतः नवमीं-दसवीं शताब्दी मे पद्मावती के आसपास से आकर बसे थे। ये अधिकतर जैन थे, पर कुछ शैव व संभवतः कुछ बौद्ध भी थे[१५]। किसी किसी का राजदरबार मे अच्छा आदर था। खजुराहों में इनकी अच्छी बस्ती थी और वहां के सम्भवतः सभी चन्देलकालीन जिनालय इनके ही बनवाये मालम होते है। ये ही वर्तमान मे गहोई कहलाते हैं। इनके १२ गोत्र है जो ६-६ अलों मे विभक्त हैं। अहार के पास ही खरगापुर स्थान है जिसे गहोइयो का प्राचीन केन्द्र माना जाता है[१६]। बाणपुर के गृहपति, जिनने बाणपुर या सहस्रकूट जिनालय, मदनसागरपुर की विशाल शांतिनाथ प्रतिमा आदि का निर्माण कराया था, वे कोच्छल्ल गोत्र के मालूम होते हैं। गृहपति जाति के १३वी सदी तक के जैन मूर्ति लेख मिलते हैं। वर्तमान मे सभी गहोई वैष्णव है, पर दो-तीन सौ वर्ष पहले तक इनमे सम्भवतः कुछ जैन थे[१७]। गोलापूर्व भी ६वी-१०वी सदी से इस क्षेत्र के निवासी लगते है। इनमे एक बेक चदेरिया कहलाता है, जिसे पहले पद्मावती गोत्र का माना जाता था[१८]। अतः सम्भव है कि इनके पूर्वज गोल्ला गढ (या गोल्लापुर) से पद्मावती जाकर बसे हो व फिर वहां से जैजाभुक्ति मे आकर बसे हो।

पोरपाट या पोरवाल वर्तमान मे परवार कहलाते है। ये बुंदेलो का राज्य हो जाने के बाद बड़ी सख्या मे चदेरी मडल मे आकर बसे थे[१९]। इसी प्रकार से गोलाराड गोलालारे कहलाते है और ये भी बुंदेलो के राज्यकाल मे भदावर से आकर बसे थे[२०]। चदेलो के राज्य मे इन्हे परदेशी ही माना जाना चाहिए। अवधपुरा (इसे अवध्या-पुरा भी पढ़ा गया है) को १८वी सदी के लेखको ने अयो-ध्यापुरी या अयोध्यापूर्व लिखा था[२१]। ये अब अयोध्या-वासी कहलाते है। फिर भी ई० १६०५ से ५६२ अयोध्या-वासी जैन थे[२२]। इनका भी बुंदेलखड मे निवास है पर इनका कोई इतिहास ज्ञात नही है।

लमेचू व जैसवाल जातियो का प्राचीन निवास चंबल के आस-पास रहा है[२३]। गर्गराट जाति वर्तमान में गंगेर-वाल या गगराडे कहलाती है[२४]। ई० १५वी-१८वीं सदी के लेखको ने इसे गगेडा, गंगरडा आदि लिखा है। ये प्राचीन काल मे राजस्थान-मध्यप्रदेश सीमा पर स्थित, झालावाड जिले के गगराड (गंगधार) स्थान के वासी थे। मडितवाल (—मेडवाल) राजस्थान के मेडता स्थान के वासी थे। इन्हें ही मेडतवाल कहा जाता है। ये वर्तमान काल मे सब वैष्णव हैं। देउवाल देशवाल ही होना चाहिए। ये भी वर्तमान काल मे नही मिलते[२५]। सम्भव है वैष्णवों या श्वेताम्बरो मे मिल गये हो।

महेषणउ या महिषणपुरवाल सम्भवतः वही जाति होना चाहिए जिसे आज महेसरी या माहेश्वरी कहते हैं। ये अधिकतर वैष्णव ही रहे है, फिर भी ई० १६१५ मे १६ महेसरी जैन थे। ये राजस्थान मे किसी महेशन स्थान के निवासी लगते है[२६]।

माथुर (माधुव, मधु) मथुरा के प्राचीन निवासी है। यह वैश्य जाति आज भी है पर इनमे कोई भी जैन नही है। मथुरा को मधुरा या (मधुवन) भी कहा जाता था। यह शक-कुषाण काल मे जैनो का अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस काल मे सभी वर्गों के लोग जैन धर्म मानते थे[२७]। मथुरा मे काष्ठवणिक, मानिकर (जौहरी), लोह-वणिक, सार्थवाह, रंगिन (रगरेज), गधिक, ग्रामिक (ग्राम प्रमुख), पुजारी, लोहिककारक, हैरण्यक (सुनार), कल्पपाल गणिका आदि वर्ग के व्यक्तियो द्वारा प्रतिष्ठाये किये जाने के उल्लेख मिलते है[२८]। हूणो के आक्रमण के बाद मथुरा का प्राचीन सब छिन्न-भिन्न हो गया। कालान्तर मे मथुरा मे प्राचीनकाल से निवास करने वाले वैश्य माथुर कहलाये। बारहवी शताब्दी के इनके लेख मदन-सागरपुर व अन्य स्थानों मे मिले हैं। माथुर जैनो के लेख इसके बाद प्राप्त नही होते है।

खडेलवाल या (खडिलवाल) उत्तर भारत की प्रसिद्ध जाति है जो शेखावाटी के प्राचीन खडेला नगर से निकली है। इनमे से जो जैन होते है वे सरावगी (श्रावक) कह-लाते हैं[२९]। जैन व वैष्णव खडेलवालो की ज्ञाते अलग-अलग है।

अतः यह पता चलता है कि मदनसागरपुर में न

केवल स्थानीय (गृहपति, गोलापूर्व, अयोध्यापुरी) श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठायें की गई थी, बल्कि चदेरी मडल (परवार), चंबल के आस-पास के ब्रज प्रदेश (लमेचू, जैसवाल, गोलालारे), व वर्तमान राजस्थान के अलग अलग भागो से आये (गगेरवाल, मेडतवाल, खडेलवाल) श्रावको ने भी प्रतिष्ठायें कराई थी[30]। उस काल मे आवागमन सुरक्षित नही था, दूर-दूर तक घने वनों से रास्ता जाता था। बुदेलखड व चदेरी मडल मे आज से केवल दो तीन सौ वर्ष पहले तक जगली हाथी होते थे। चदेलकाल मे मदन सागरपुर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था, यह तो स्पष्ट है। यह महत्व वाणिज्य के कारण था या धार्मिक केन्द्र होने के कारण था, यह स्पष्ट नही है। चदेलो का महत्व बढने के पूर्व पद्मावती व्यापार का अच्छा केन्द्र था। पद्मावती पुरवार तो यहां से निकले ही है, परवार, गोलापूर्व व पल्लीवाल जातियो मे पद्मावती नाम के विभाग रहे हैं। किंवदतियो के अनुसार पद्मावती मे कभी ८४ जैन ज्ञातियो का सम्मेलन हुआ था। सम्भव है यहाँ की ही मडी टूटकर मदनसागरपुर आ गई हो।

यहाँ पर कुटक अन्वय की चर्चा बाकी है। इस अन्वय लेखो से यह स्पष्ट है कि यह अन्वय श्रावकों का नही, साधुओ का था। अन्यत्र इस अन्वय के उल्लेख देखने में नही आए हैं। इस विषय पर एक अन्य लेख में विचार किया गया है[31]।

मदनवर्मन के राज्यकाल मे किसी कारण से यह स्थान प्रसिद्ध हो गया है। स० ११६६ से स० १२०८ तक १० वर्षों मे यहाँ कम से कम १७ बार प्रतिष्ठायें हुईं। यह क्रम परमर्द्धि (परमाल) के राज्यकाल मे भी कुछ समय तक चलता रहा। स० १२३७ मे कई प्रतिमायें एक साथ पुन: प्रतिष्ठित हुईं। इसमे शान्तिनाथ की १८ फुट ऊँची प्रसिद्ध प्रतिमा भी थी। जो अपने ही मन्दिर मे मूलनायक के रूप मे स्थापित की गई। इसके दो ही वर्ष बाद स० १२३९ मे चाहमान पृथ्वीराज ने आक्रमण करके जैजाक भुक्ति को लूट लिया इस प्रसिद्ध युद्ध का विस्तृत वर्णन चद बरदाई रचित पृथ्वीराज रासो मे, महोबाखड (परमाल रासा) एव जगनिकराव के रचे आल्हा रासो मे हुआ है[32]। इनमे दिया हुआ वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से कही-कही गलत है। पृथ्वीराज के आक्रमण से जेजाभुक्ति की सपन्नता हमेशा के लिए समाप्त हो गई, यद्यपि चदेलो का राज्य करीब डेढ़ सौ वर्षों तक चलता रहा। पृथ्वीराज के लौटते ही जेजाभुक्ति पुन: परमाल के हाथ आ गया। परमाल रासो के अनुसार अपनी पराजय के दुःख से परमाल ने कालजर मे आत्महत्या कर ली। पृथ्वीराज रासो के अनुसार परमाल राज्य त्याग कर गया (बिहार) चला गया। परन्तु स० १२४० से सं० १२५८ के शिलालेखो से स्पष्ट है कि परमाल का राज्य पृथ्वीराज से हारने के बाद भी बहुत वर्ष तक चला। ई० १२०२ (स० १२५९) मे कुतुबुद्दीन ने कालजर घेर लिया। घेरे के दौरान ही परमाल की मृत्यु हो गई।

परमाल का पुत्र त्रैलोक्यवर्मन न केवल मुसलमानो से अपना राज्य छुडाने मे सफल रहा बल्कि उसने चदेलो के पुराने शत्रु कलचुरियो से डाहल मडल छीन लिया। त्रैलोक्यवर्मन के बाद उसके पुत्र वीरवर्मन का राज्य हुआ। वीरवर्मन के बाद पहले उसके पहले पुत्र भोजवर्मन का राज्य हुआ। इस समय तक चदेलो का राज्य बहुत कुछ पूर्ववत् बना रहा[33]। परन्तु उत्तरी भारत का बहुत सा भाग विदेशियो के हाथ आ जाने से वाणिज्य व धार्मिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई थी। जनसख्या घटने से बहुत से गाँव उजड रहे थे। जेजाभुक्ति मे कुछ जैन प्रतिष्ठायें फिर भी कहीं-कहीं होती रही। भोजवर्मन के बाद उसके भाई हम्मीरवर्मन का राज्य हुआ। इसके काल मे स० १३६६ (ई० १३०९) मे अलाउद्दीन खिलजी ने डाहल मडल व सम्भवत कुछ अन्य प्रदेश हथिया लिये। वीरवर्मन (दूसरा) नाम के एक राजा का एक लेख ई० १३१५ (स० १३६२) का प्राप्त हुआ है[14]। इसके बाद चदेल राजवश का सूर्य अस्त हो गया।

इस क्षेत्र मे करीब ३ सौ वर्ष अस्थिरता बनी रही। परदेशी श्रावको का आना तो स० १२३९ मे ही रुक गया था। तेरहवी-चौदहवी सदी तक गृहपति (गहोई) जाति से भी जैनधर्म छूट गया। इसी काल मे मदन सागरपुर उजड गया होगा। जेजाभुक्ति मे कही-कही गोलापूर्वों द्वारा कुछ प्रतिष्ठायें होती रही।

कालांतर में इस क्षेत्रों में बुंदेलों का व उत्तर भारत मे मुगलो का राज्य हुआ। पुन. जनसख्या बढ़ी, व्यापार बढा। १६-१७वी सदी मे बडी सख्या मे चदेरी मडल से परवार बुंदेलखण्ड में आकर बसे। अंग्रेजो के राज्य में पुनः चेतना आई व मदनसागरपुर (अहार) आदि स्थानो का पुनरुद्धार हुआ।

सन्दर्भ-सूची

१. कस्तूरचन्द सुमन, अहार का शान्तिनाथ प्रतिमा लेख, 'अनेकान्त अप्रैल-जून १९९१, पृ. १६-१९।

२. शिशिर कुमार मित्र, The Early Rulers of Khajuraho, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, १८७७, पृ. १२-२०।

३. वही, पृ. २४०।

४. Mable Duff, The chronology of Indian History, Dosmo Publications, 3972. (Original Publication in 1899AD)

५. अयोध्याप्रसाद पांडेय, चन्देलकालीन बुंदेलखंड का इतिहास, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९६८, पृ.

६. मित्र, २२३-२३९।

७ गोविंददास जैन कोठिया, प्राचीन शिलालेख, (श्री दि. जैं अ. क्षे. अहारजी), १९५ ई.।

८. मित्र पृ. ९१-९७।

९. पांडेय, पृ ७२।

१०. यशवन्त कुमार मलैया, गोल्लाचार्य का समग्र अप्रकाशित लेख।

११. मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ गोलापूर्व डायरेक्टरी, २९४१ ई. पृ. १९८।

१२ गौरीशंकर हीराचद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, १९१८ ई., पृ १७३ ७४।

१३. 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तिका के आधार पर। इस लेख सग्रह मे अहार के अलावा नारायणपुर के मंदिर की प्रतिमाओं के लेख भी शामिल हैं। अहार के पास सरकनपुर मे भी खाग परिवार के मन्दिर मे चदेलकालीन प्रतिमाओ व ताम्रग्रीव अचल यत्रों का सग्रह है। ये प्रतिमायें १९२८ ई. में ओरछा के महाराजा महेन्द्रसिंह द्वारा नार ग्राम के चदेलकालीन जैन मंदिर के पास खुदाई से प्राप्त हुई थी इन प्रतिमाओं के लेख प्राप्त नहीं हैं, पर नार के मंदिर के निर्माता गहपति थे इतना ज्ञात है।

१४. स. १२३७ मे स्थापित इस प्रतिमा को किंवदंतियों के अनुसार पाणासाह नामक व्यापारी ने स्थापित कराया था। परन्तु ······ लेख के अनुसार इसकी स्थापना जाहड व उदयचन्द्र नामक भाइयो ने कराई थी। इसके पहले ही मदनसागरपुर महत्वपूर्ण स्थान बना चुका था।

१५. खजुराहो मे विश्वनाथ मन्दिर की दीवार में लगे स. १०५८ (ई. १००१) के गृहपति कोक्कल के लेख मे उसके पूर्वजो के पद्मावती मे निवास किये जाने उल्लेख है। कोक्कल ने वैद्यनाथ शिव के मंदिर का निर्माण कराया था। इस लेख मे ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, जिन, वामन को एक ही मानकर नमस्कार किया गया है। खजुराहो मे जैन मन्दिरों के निकट ही गृहपतियो की बस्ती रही होगी। यहाँ घंटाई मंदिर के पास जैन मूर्तियों के अलावा बौद्ध मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थी। देखिए मित्र पृ. २२४, पांडेय पृ. १७२, मित्र पृ २०३।

१६. R. V. Russell and Hiralal Tribes and caster of the Central Provinces of India, Vol. II, Cosmo Publication, 1975 (Originally Published in 1916), Pages 055-47.

१७. नवलसाह चदेरिया के सं. १७९८ में रचे वर्धमान पुराण मे ८४ वैश्य जातियो के नाम दिये है। इसमे साढे बारह प्रमुख जैन जातियो के नामों के बाद २७ "जैन लगार" वाली जातियो के नाम दिये है। इनमें गृहपति, माहेश्वरी, असाटी, नेमा आदि के नाम हैं। इनमे से कई मे बीसवी सदी मे भी जैन मिल जाते हैं। देखिए—यशवंत कुमार मलैया, वर्धमान पुराण के सोलहवे अधिकार पर विचार, अनेकांत, जून १९७४, पृ. ५८-६४।

१८. सोंरई के एक प्रतिमा विहीन मंदिर के लेख में निर्माता को पद्मावती गोत्र का चंदेरिया बैंक का लिखा गया है। नवलसाह चंदेरिया ने भी वर्धमान पुराण में अपना गोत्र "प्रजापति" लिखा है जो पद्मावती का अपभ्रंश लगता है।

१९. बुंदेलखंड मे (चंदेरी मंडल के अलावा) परवार जाति के लेख १७वी शताब्दी से पाये जाते है। देखिए— 'जिनमूर्ति प्रशस्ति लेख', कमलकुमार जैन छतरपुर, मे फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री की प्रस्तावना, पृ. ३०। वर्तमान मे बुंदेलखंड मे प्रमुख जैन जाति यही है।

२०. बुंदेलखंड में बसने वाले गोलाराडे खरौआ व मिठौआ दोनो ही श्रेणियो के थे। फिर भी कालांतर मे वे सभी मिठौआ कहलाये। देखिए—रामजीत जैन, श्री दि. जैन खरौआ समाज का इतिहास, प्र. गयेलिया जैन धर्मार्थ ट्रस्ट, ग्वालियर, १९९०।

२१. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खंडेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास, पृ. ३८।

२२. आ. भा. दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, प्र. ठाकुरदास भगवानदास जवेरी, १९१४।

२३. झम्मन लाल जैन न्यायतीर्थ, श्री लमेंचू दि. जैन समाज इतिहास, १९५१ एव रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास, १९८८।

२४. यशवंत कुमार मलैया, गोलापूर्व जाति के परिप्रेक्ष्य मे, प. बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रथ, १९९० पृ. १०३-१९०।

२५. दिगम्बर जैन डायरेक्टरी।

२६ यशवंत कुमार मलैया, वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार, अनेकांत, वर्ष २७, अ. २, अगस्त १९७४, पृ. ५८-६४।

२७. N. P. Joshi, Earlp Jain Icons from Mathura (in "Mathura, The Cultural Heritage" Editor D.M. Srinivasan), 1989, Page 333

२८. ज्योतिप्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें, भारतीय ज्ञानपीठ, १९७५ ई पृ. ६५-६९।

२९. खंडेलवाल जैन साहित्य का वृहद् इतिहास।

३०. अहार के लेखो मे पौरवाल व पौरपट्ट दोनों शब्द वर्तमान परवार जाति के लिए ही प्रयुक्त किये गये मालूम होते हैं। चंदेलकाल में यहाँ श्रीमाल मंडल के श्रावको का (श्रीमाल, प्राग्वाट, ओसवाल, पल्लीवाल) आना नही था, ऐसा प्रतीत होता है। संभवत: यहाँ अग्रवालो का आना भी नही था। एक धातु की स. १३८९ की प्रतिमा छतरपुर मे है, जिसमे अग्रोतकान्वय का उल्लेख है, पर हो सकता है वह अन्यत्र से लाई गई हो। हरियाणा व श्रीमालमंडल दोनों ही यहाँ से बहुत दूर है।

३१. यशवंत कुमार मलैया, जैन साधुओं का कुटक अन्वय, अप्रकाशित लेख।

३२. मित्र, पृ. ११८-१२७। मदनपुर मे प्राप्त स. १२३९ के पृथ्वीराज के दो लेखों में भी जेजाभुक्ति को लूटे जाने का उल्लेख है।

३३. मित्र, पृ. १३९।

३४. R.C. Majumdar (Ed.), The History and Cultural of Indian People : The Struggle for Empire, P. 69.

Computer Science Department
Colorado State University
Fort Collins Co 80525
USA

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर की तीर्थङ्कर नेमिनाथ की मूर्तियाँ

☐ श्री नरेश कुमार पाठक

नेमिनाथ या अरिष्टनेमि नेमि इस अवसर्पिणी के २२वें जिन हैं। द्वारावती के हरिवंशी महाराज समुद्र विजय उनके पिता और शिवा देवी उनकी माता थी। शिवा के गर्भकाल मे समुद्र विजय सभी प्रकार के अरिष्टो से बचे थे तथा गर्भावस्था मे माता ने अरिष्ट चक्र नेमि का दर्शन किया था, इसी कारण बालक का नाम अरिष्ट-नेमि या नेमि रखा गया। समुद्र विजय के अनुज वसुदेव की दो पत्नियाँ रोहिणी और देवकी थी। रोहिणी से बलराम और देवकी से कृष्ण उत्पन्न हुए। इसी प्रकार कृष्ण एवं बलराम नेमि के चचेरे भाई थे। इस सम्बन्ध के ही कारण मथुरा, देवगढ, कुम्भारिया, विमलसही एव लूणवसही के मूर्त अकनो मे नेमि के साथ कृष्ण एव बल-राम भी अंकित हुए। कृष्ण और रुक्मिणी के आग्रह पर नेमि राजीमती के साथ विवाह के लिए तैयार हुए। विवाह के लिए जाते समय नेमि ने मार्ग मे पिंजरो मे बंद जाल पाशों मे बँधे पशुओं को देखा। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि विवाहोत्सव के अवसर पर दिये जाने वाले भोज के लिए उन पशुओ का वध किया जाएगा तो उनक हृदय विरक्ति से भर गया। उन्होंने तत्क्षण पशुओ को मुक्त करा दिया और बिना विवाह किये वापिस लौट पड़े और साथ ही दीक्षा लेने के निर्णय की भी घोषणा की, नेमि के निष्क्रमण के समय मानवेन्द्र, देवेन्द्र, बलराम एव कृष्ण उनकी शिविका के साथ-साथ चल रहे थे। नेमि ने उज्ज-यत पर्वत पर सहस्रार उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे अपने आभरणो एव वस्त्रो का परित्याग किया और पंच मुष्टि मे केशो का लुंचन कर दीक्षा ग्रहण की। ५४ दिनो की तपस्या के बाद उज्जंयत गिरि स्थित रेवतगिरि पर बेतस वृक्ष के नीचे नेमि को केवल्य प्राप्त हुआ। यही देव निर्मित समवशरण नेमि ने अपना पहला धर्मोपदेश भी दिया। नेमि की निर्वाण स्थली भी उज्जंयत गिरि है। नेमिनाथ का लाछन शख है, यक्ष-यक्षी गोमेद एवं अम्बिका या (कुष्माण्डी) है।[1]

केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर मे २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की दो प्रतिमाये सुरक्षित हैं, जिनमे एक पद्मासन मे एव एक कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित है, सुरक्षित प्रतिमाओ का विवरण इस प्रकार है :—

पद्मासन :—यह प्रतिमा पुरातत्व मण्डल के समय सग्रहालय को उपलब्ध हुई थी, इसका प्राप्ति स्थान ग्वालियर ही है। २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ पद्मासनस्थ मुद्रा मे निर्मित है। (स. क्र. ६८३) तीर्थंकर का दाया पैर आशिक रूप से भग्न है। सिर पर कुन्तलित केश सज्जा, कर्णचाप, पीछे चक्र के आकार की प्रभावली है। पार्श्व मे दोनो ओर एक-एक पद्मासन मे जिन प्रतिमा अंकित है। वितान मे त्रिछत्र, दुन्दुभिक विद्याधर युगल, अभिषेक करते हुए गजो का शिल्पांकन है। पादपीठ पर दोनों पार्श्व मे चावरधारी है जिनके मुख भग्न हैं। एक भुजा मे चावर एक भुजा मे कटियावलम्बित है। वे यज्ञो-पवीत, केयूर, वलय, मेखला पहने हुए है। पादपीठ पर नीचे सामने मुख किये सिह, मध्य म चक्र एव एक पूजक प्रतिमा अजलीहस्त मुद्रा म बैठी हुई है। परिकर मे गज, सिह, मकर, व्याल व हार लिए सेविका खड़ी है। पाद-पीठ के नीचे दायें पार्श्व मे यक्ष गोमेद और बायें पार्श्व मे यक्षी अम्बिका है, जो दायी भुजा मे आम्रलुम्बी एव बायी भुजा से गोद मे लिए बच्चे को सहारा दिये हुए है। सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा का आकार १३५ × ७५ × ३० से. मी. है। कलात्मक अभिव्यक्ति दृष्टि से ११वी

(शेष पृ० २० पर)

सुख का सच्चा साधन : बारह भावना

(लेखक : क्षुल्लकमणि श्रीशीतलसागर महाराज)

सबसे प्राचीन-भाषा प्राकृत मे, जिसे 'अणुवेक्खा', संस्कृत में जिसे 'अनुप्रेक्षा' और हिन्दी में जिसे 'भावना' कहते है, वह बारह भेद वाली है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'बारसाणुवेक्खा' नामक शास्त्र म इसका महत्व प्रदर्शित करते हुए लिखा है :—

किं पलवियेण बहुणा, जे सिद्धा णर वरा गये काले।
सिज्झहदि जे वि भविया, तज्जाणह तस्स माहप्प ॥९०॥

अर्थात् अधिक कहने से क्या प्रयोजन ! जितने भी महापुरुष सिद्ध हुए है और आगे भविष्य काल मे भी सिद्ध होंगे, वह सब बारह-भावना का ही माहात्म्य है।

ज्ञानार्णव-महाशास्त्र मे, श्रीशुभचन्द्राचार्य ने इनका माहात्म्य इस प्रकार वर्णित किया है —

दीप्यन्नाभिरयं ज्ञानी, भावनाभिर्निरन्तरम्।
इहैवाप्नोत्यनातंक, सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥

अर्थात् इन बारह भावनाओं से निरन्तर शोभायमान होता हुआ ज्ञानी व्यक्ति, इसी लोक मे रोगादिक की बाधा रहित अतीन्द्रिय और अविनाशी सुख को प्राप्त करता है।

आगे भी आचार्यश्री लिखते हैं—

विध्यति कषायाग्नि, विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोध-दीपो, हृदि पुंसां भावनाऽभ्यासात् ॥

अर्थात् इन बारह भावनाओं के अभ्यास से, भव्य-पुरुषों की कषाय रूपी-अग्नि शान्त हो जाती है, राग गल जाता है, अज्ञानरूपी अन्धकार विलीन हो जाता है तथा हृदय मे ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश विकसित होता है।

इतना बतला देने पर भी आचार्य श्री को जब संतोष नही हुआ तो वे, हम संसारी जीवों की इन बारह भावना के प्रति और भी आस्था दृढ करने के लिए लिखते है—

एता द्वादश-भावनाः खलु सखे ! सख्योऽपवर्गश्रियस्,
तस्याः संगम-लालसैं, घंटयितुं मैत्री प्रयुक्ता बुधैः।
एतासु प्रगुणीकृतासु नियत, मुक्त्यंगना जायते,
सानन्दा प्रणयप्रसन्न-हृदया योगीश्वराणां मुदे ॥

अर्थात् हे मित्र ! हे भव्यात्मा ! ये बारह भावनायें निश्चय से मुक्तिरूपी लक्ष्मी की सखी-सहेलियाँ हैं। मोक्ष-रूपी लक्ष्मी के संगम की लालसा रखने वाले बुद्धिमानों ने इन्हें, मित्रता करने के लिए प्रयोग रूप से कहा है। इनका अभ्यास करने से मुक्ति रूपी स्त्री आनन्द सहित स्नेहरूप प्रसन्न हृदय वाली होकर योगीश्वरो को आनन्द देने वाली होती हैं।

स्वामी-कार्तिकेय ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा के प्रारम्भ मे लिखा है—

"वोच्छं अणुपेहाओ, भविय-जणाणद-जणणीओ"

अर्थात् मैं भव्यात्माओं को आनन्द उत्पन्न करने वाली अनुप्रेक्षाओं को कहता हूं।

(पृ० १८ का शेषांश)

शताब्दी की कच्छपधातु युगीन शिल्प कला के अनुरूप प्रतीत होती है।

कायोत्सर्ग :—ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त लगभग १३वी शती ईसवी की तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित है। (स. क्र. ११७) तीर्थंकर के सिर पर कुन्तलित केश राशि, लम्बे कर्णचाप, सिर के पीछे प्रभा-वली, त्रिछत्र, दुन्दभिक दोनों ओर मालाधारी विद्याधर तीर्थंकर के पार्श्व मे चावरधारी परिचारक खड़े है, जो एक भुजा मे चावर दूसरी भुजा कटियावलम्बित है। दोनो ओर दो स्तम्भ जिस पर गज व्यालो का अंकन है। पादपीठ पर तीर्थंकर नेमिनाथ का लाछन शंख तथा उसकी पूजा करते हुए स्त्री पुरुष स्थित हैं। एस. आर. ठाकुर ने इस प्रतिमा को जैन तीर्थंकर लिखा है[२]।

सन्दर्भ-सूची

१. तिवारी मारुतिनन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान वाराणसी १९८१, पृ. ११७।

२. ठाकुर एस. आर., कैटलाग आफ स्कल्पचर्स इन दी आर्केलाजिकल म्यूजियम ग्वालियर एम. बी. पृ. २१, क्रमांक ५।

जिला संग्रहालय, शिवपुरी (म. प्र.)

गाथा ४८ की अन्तिम दूसरी पंक्ति मे लिखा है—

"जो पढ़इ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तम सोक्ख'

अर्थात् जो भव्य जीव इन बारह भावनाओ को पढ़ता है सुनता है और बार-बार चिन्तवन करता है वह उत्तम मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

आचार्य सकलकीर्ति रचित पार्श्वचरित सर्ग पन्द्रह का निम्न श्लोक सख्या १३६ भी इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य है। आचार्य श्री लिखते हैं—

सकल-गुण-निधाना, सर्व-सिद्धान्त-मूला,
जिनवर-मुनि-सेव्या, राग-पापारि-हन्त्री:।
शिवगति-सुखखानी, सिद्धयेर्मुक्तिकामा,
अनवरतमनुप्रेक्षा, भजध्व प्रयत्नात् ॥

अर्थात् हे मुक्ति की कामना करने वाले मुमुक्षुओ! ये बारह भावनायें, सकल गुणों की भण्डार है, सम्पूर्ण सिद्धान्तो की मूल है, जिनवर तथा मुनिवरो के द्वारा सेवनीय है, राग व पाप रूपी शत्रु का विनाश करने वाली हैं एव मोक्ष अवस्था मे होने वाले अतीन्द्रिय-सुख की खान हैं अतएव सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए इन्हे निरन्तर भजो—लगातार चिन्तवन करो।

श्रीमत् सोमदेव सूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू के द्वितीय आश्वास मे भी, बारह भावना का वर्णन है, वहाँ इनका महत्व बताते हुए जो लिखा है उसका भाव यह है कि—"ये बारह भावना; अठारह हजार शील के भेदो में प्रधान और ससार समुद्र से पार करने के लिए जहाज की घटिकाओ के समान है।"

रयणसार-गाथा १०० के अन्त मे भी लिखा है—"अणुपेहा भावणा जुदो जोइ" अर्थात् जो जोगी-महात्मा है वह अनुप्रेक्षा की भावना से युक्त होता है। बार-बार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने वाला होता है।

सर्वोपयोगी श्लोक सग्रह पृष्ठ ५८० पर जो उल्लेख है उसका भाव यह है कि—बारह भावना का चिन्तवन करने से साधु पुरुष (श्रमण, महात्मा) धर्म मे महान उद्यमी होता है तथा इनसे कर्मों का महान् सवर होता है।

अमितगति श्रावकाचार अध्याय चौदह का श्लोक ८२ भी इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य है—

योऽनुप्रेक्षा द्वादशापोति नित्य,
भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशील:।
हेयाऽऽदेयाऽशेष-तत्त्वाऽवबोधी,
सिद्धि सद्यो याति सध्वस्त-कर्मा ॥

अर्थात् भक्ति पूर्वक जो भव्यात्मा, ध्यान स्वभाव वाला होता हुआ, इन बारह भावना का सदैव ध्यान-चितवन करता है, वह हेय व उपादेय तत्वो का ज्ञानी, शीघ्र ही कर्मों का नाश करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

श्री प० जयचन्दजी छाबडा ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका करते हुए अनुप्रेक्षा के सम्बन्ध मे लिखा है कि—

पढउ पढावहु भव्यजन, यथा ज्ञान मन धारि।
करहु निर्जरा कर्म की, बार-बार सुविचारि ॥

अर्थात् हे भव्य-आत्माओ! अपने क्षयोपशम के अनुसार इन बारह भावनाओ को मन मे धारण करके, स्वयं पढो एव दूसरो को भी पढाओ। साथ ही इनका बार-बार चितवन करके, कर्मों की निर्जरा करो।

पडित सदासुखजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका मे इन बारह भावनाओ का महत्व इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"इनका स्वभाव भगवान तीर्थंकर हू चितवन करि ससार देह भोगनि तै विरक्त भये है तातै ये भावना वैराग्य की माता है, समस्त जीवनि का हित करने वाली है, अनेक दुखनि करि व्याप्त ससारी जीवान के ये भावना ही भला-उत्तम शरण है। दुःखरूप अग्नि करि तप्तायमान जीवनि कू शीतल पद्मवन का मध्य मे निवास समान है, परमार्थ मार्ग के दिखावने वाली है, तत्वनि का निर्णय करावने वाली हैं। इन द्वादश भावना समान, इस जीव का अन्य हितकारी नाही है, द्वादशाग को सार है।"

कविवर दौलतरामजी ने भी, निम्न दो सखी छन्दो मे इनका माहात्म्य बताया है—

"मुनि सकल-व्रती वड़ भागी, भव भोगनतें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई ॥
इन चिन्तन सम-सुख जागै, जिमि ज्वलन पवनके लागै।
जबहि जिय आतम जानै, तबही जिय शिव-सुख ठानै ॥

अर्थात् हे भाई! महाव्रतो को धारण करने वाले वे मुनि-महात्मा महान् भाग्यशाली है जो कि भव-ससार और भोगों से वैरागी होते है तथा वे वैराग्य को उत्पन्न

करने-बढाने के लिए, माता के समान बारह भावनाओ का चितवन करते रहते हैं। इन बारह भावनाओं के चितवन करते रहने से समता रूपी सुख की बढवारी होती है, जिस प्रकार से अग्नि के हवा लगने से अग्नि प्रज्वलित-देदीप्यमान होती है। इन बारह-भावना के विशेष चितवन करने से ही, ससारी-जीवात्मा अपने असली स्वभाव को जानता है और तब ही यह जीवात्मा एक दिन मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।

कविवर भैया भगवती दास जी ने भी स्वरचित बारह भावना के अन्त मे लिखा है—

ये ही बारह भावना सार, तीर्थंकर भावहि निरधार।
ह्वै वैराग्य महाव्रत लेहि, तब भवभ्रमण जलांजुलि देहि॥

अर्थात् ये अनित्यादि बारह भावना ही श्रेष्ठ उत्तम है, जिन्हे होने वाले तीर्थंकर भगवान भी निश्चय मे चितवन करते है। इनसे वैराग्य को प्राप्त करके महाव्रतो को धारण करते है पश्चात् जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त करते है।

इस प्रकार अनेक आचार्यो एव अनेक कवियो ने इनका माहात्म्य बताया है, अब हम थोडा इनके स्वरूप आदि की ओर भी दृष्टिपात करे।

अनु+प्र+ईक्षा इन तीनो के मेल से 'अनुप्रेक्षा' शब्द बना है। पुन: पुन: प्रकर्ष रूप मे देखना, अवलोकन करना, चितवन करना इसका अर्थ होता है।

श्री उमा स्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र अध्याय ९ सूत्र सात मे इस विषय को इस प्रकार से समझाया है—'स्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षा' अर्थात् इन अनित्य आदि बारह प्रकार के कहे गये तत्त्व का बार-बार चितवन करना 'अनुप्रेक्षा' है।

श्री अकलंक देव सूरि ने भी तत्वार्थ राजवार्तिक मे उल्लेख किया है—

"शरीरादीनां स्वभावानुचिंतनमनुप्रेक्षा वेदितव्या." अर्थात् शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है ऐसा समझना चाहिए।

'अनुप्रेक्षा' यह स्वाध्याय नामक अतरग तप के चौथे भेद रूप मे भी प्रयुक्त हुआ है। धवला (१४।५, ६, १४। ५।५) में इस विषय को इस प्रकार समझाया है—

'सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिन्तणमणुपेहण णाम' अर्थात् सुने हुए अर्थ का, श्रुत के अनुसार चिन्तवन करना 'अनुप्रेक्षा' है। सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र २५ की टीका मे भी इसका विवेचन है। वहाँ लिखा है· 'अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा' अर्थात् जाने हुए पदार्थ का, मन मे बार-बार अभ्यास करना 'अनुप्रेक्षा' है।

वास्तव मे किसी भी विषय का पुन:-पुन: चिन्तवन करना 'अनुप्रेक्षा' है। मोक्षमार्ग मे वैराग्य को बढ़ाने के लिए, बारह प्रकार के विषय के चिन्तवन रूप बारह प्रकार की अनुप्रेक्षा का कथन जैन शास्त्रो मे पाया जाता है। इन्हे बारह भावना भी कहते है। इनके चिन्तवन से व्यक्ति; ससार, शरीर और भोगो से वैरागी-उदासीन होकर सन्यास दशा को अगीकार करता है। यह अवस्था आत्म-शान्ति व मुक्ति का प्रधान कारण है।

आचार्यो की दृष्टि मे अनुप्रेक्षाओ के क्रम मे कुछ अन्तर पाया जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इनका क्रम इस प्रकार रक्खा है—१. अध्रुव, २. अशरण, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. ससार, ६. लोक, ७. अशुचित्व, ८. आस्रव ९. सवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म और १२. बोधि।

श्री उमा स्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र मे इनका क्रम इस प्रकार रक्खा है—१. अनित्य, २. अशरण, ३. ससार, ४ एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. सवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ और १२. धर्म।

स्वामी कार्तिकेय ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे इसी पिछले क्रम को अपनाया है।

लगभग सभी आचार्यो एवं कवियों ने इस पिछले क्रम को ही अपनाया है। हो सकता है आचार्य कुन्दकुन्द के 'बारसणुवेक्खा' का अन्वेषण देरी मे हुआ हो। किसी-२ ने ग्यारहवे नाम को बारहवां और बारहवे नाम को ११वा भी लिखा है। अध्रुव और अनित्य ये पर्यायवाची शब्द हैं।

जितने भी तीर्थंकर व मोक्षगामी भव्य-पुरुष हुए हैं और होंगे वे सब इन बारह अनुप्रेक्षाओ-भावनाओ का चितवन करके ही हुए और होगे। इत्यलम्

श्रीलंका में जैनधर्म और अशोक

☐ श्री राज मल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

दक्षिण भारत मे जैनधर्म के अस्तित्व के लिए श्रीलका के बौद्ध महाकाव्य महावशो के आधार पर प्रायः सभी इतिहासकार इस बात से सहमत है कि ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दी मे जैनधर्म दक्षिण मे फैल चुका होगा क्योंकि श्रीलका के उपर्युक्त ग्रंथ मे यह उल्लेख है कि वहाँ के राजा पांडुकाभय (ईसा पूर्व ३३७–३७८) ने निरग्रथो (जैनो) के लिए एक भवन तथा एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। यह एक भौगोलिक तथ्य है कि किसी समय केरल और श्रीलका जुड़े हुए थे। स्पष्ट है कि जैन वहाँ पर केरल होते हुए पहुंचे होगे। पांडुकाभय और चन्द्रगुप्त मौर्य (राज्यारोहण ३२० ईसा पूर्व) समकालीन थे। जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने २५ वर्ष राज्य कर सिंहासन त्याग दिया था। यदि पांडुकाभय से पहले श्रीलका पहुचने मे जैनधर्म को एक सौ वर्षों का भी समय लगा हो तो भी यह मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि श्रीलका मे जैनधर्म ईसा मे ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् महावीर स्वामी के निर्वाण के कुछ साल बाद ही श्रीलका मे पहुच चुका था। उपलब्ध जानकारी के अनुसार पाडुकभय का राज्याभिषेक बुद्ध निर्वाण के १८६ वर्ष बाद हुआ था और अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा बौद्धधर्म का श्रीलंका मे प्रचार बुद्ध निर्वाण के २३६ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीलका मे जैनधर्म का अस्तित्व महेन्द्र से १५० वर्ष पूर्व भी था।

इतिहासकार यह मानते है कि अशोक ने श्रीलका मे बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को श्रीलका भेजा था और वहाँ के राजा देवानांपिय तिस्स (ईसा पूर्व २५०–२१०) ने उनका स्वागत किया था तथा बौद्ध धर्म फैलाया था। यह घटना ई० पू० तीसरी शताब्दी की है।

अब महावशो के आधार पर इस प्रसग से संबधित कुछ तथ्य इस काव्य के Greiger के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर संक्षेप मे यहाँ दिए जाते हैं।

(१) बुद्ध से पहले श्रीलका का एक नाम नाग द्वीप भी था।

(२) शाक्यमुनि को यह ज्ञान हुआ कि उनका धर्म श्रीलंका मे फैलेगा। इसलिए उन्होंने श्रीलका की तीन बार यात्रा की थी। जब वे वहाँ गए तब कल्याणी (कोलबों नाम की एक नदी) प्रदेश मे एक नाग राजा राज्य करता था। उस समय बुद्ध ने हवा मे उड़ते हुए यक्ख (Yakkha) लोगो के मन मे वर्षा, तूफान आदि के द्वारा भय उत्पन्न किया और उन्हें गिरि-दीप मे भगा दिया .. नाग और असुर लोगो के परमोपकार के लिए बुद्ध ने श्रीलका की तीन यात्रायें की थीं।

(३) महावंसो के अनुसार बग (बगाल) देश के राजा की पुत्री का पुत्र सिंहबाहु था। उसके पुत्र विजय को दुराचारी होने के कारण राज्य से निकाल दिया गया। वह ७०० साथियों व स्त्रियो, बच्चो सहित श्रीलका पहुंचा। यह घटना इतिहासकार ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुई मानते हैं। बच्चे जहां उतरे वह नागदीप था। श्री ग्रीगर ने नाग का अर्थ Naked किया है।

(४) इसी काव्य मे यह उल्लिखित है कि नौ नद राजाओ के बाद मगध का साम्राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य को प्राप्त हुआ। उसे पूरे जबूद्वीप का स्वामी कहा गया है।

(५) महावंसो के प्रथम अध्याय मे यह उल्लेख भी है कि बुद्ध को यह ज्ञात था कि महोदर (मामा) और चूलोदर (भानजा) मे युद्ध होगा। महोदर की बहिन का विवाह एक नाग राजा से वड्ढमान पर्वत पर हुआ था। वड्ढमान वर्धमान का प्राकृत रूप है। महावीर

के मात-पिता ने अपने पुत्र का नाम वर्धमान रखा था। इस प्रकार श्रीलका मे महावीर का यश पहले ही फैल चुका था।

(६) उपर्युक्त ग्रन्थ (१५–६२) के ही अनुसार श्रीलका के एक स्थान का नाम वर्धमान था जो कि महामेघवन (अनुराधपुर के निकट) के दक्षिण की ओर स्थित था।

एक यह तथ्य भी विचारणीय है कि सिहली भाषा मे प्राकृत भाषा के तत्व पाए जाते हैं। श्री सिल्वा के अनुसार प्राकृत का एक भेद सिहली प्राकृत भी है। प्राकृत का सबध जैनो मे है यह सभी जानते हैं। बौद्धों की प्रिय भाषा पाली है। प्राकृत नाग लोगो की भाषा रही होगी जो कि व्यापारी थे।

प्रो० सिल्वा नामक श्रीलका के इतिहासकार ने लिखा है कि वहाँ मोरिय नामक जाति प्राचीन समय मे बसती थी और उसका चिह्न मयूर अथवा मोर था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी इसी जाति का था और उसकी ध्वजा पर भी मोर का ही चिह्न था। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार था यह भी भ्रामक कथन है। प्रो० सिल्वा (Silva, K. M. De, A History of Shri Lanka, O.U P. P. 10–110 ने यह मत व्यक्त किया है कि—"Though Buddhist sources have naturally endeavoured to associate Ashok with the Third Council, he does not refer to it anywhere in his inscriptions not even in those relating specifically to the Sangha." सबंधित परिषद ईसा से २५० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में हुई थी। कुल चार पक्तियो मे बुद्ध के जन्म स्थान पर उत्कीर्ण लुबिनी के छोटे से शिलालेख मे भी अशोक का नाम नही है। उसमे केवल इतना ही लिखा है कि यहां शाक्यमुनि का जन्म हुआ था, इसलिए इस ग्राम से छटे भाग के स्थान पर आठवां भाग करके रूप मे लिया जाए। बुद्ध को अपना उपास्य मानने वाले सम्राट के लिए यह बहुत बडो छूट नही है, वह शत प्रतिशत हो सकती थी। इसके अतिरिक्त इस लेख की क्रिया "महीयित" का अर्थ भी सम्भवत: गलत लगाया गया है। उसका प्राथमिक अर्थ To delight, gladden or to be glad है जब कि उसका गोण अर्थ worship लेकर यह अनुवाद कर दिया गया है कि अशोक ने बुद्ध की पूजा की। शायद यह अशोक का सबसे छोटा ? लेख है। इसका नौ पक्तियो का लेख तो गिरनार का है जिसमें उसने केवल इसी बात पर जोर दिया है कि लोग अपने सप्रदाय की प्रशसा और दूसरे संप्रदाय की निंदा नहीं करें। ऐसा करके वे अपने ही संप्रदाय का हनन करते हैं। क्या यह नेमीनाथ की निर्वाणस्थली की प्रेरणा थी ? आश्चर्य की एक बात यह भी है कि बुद्ध की जन्मस्थली की यह यात्रा अशोक ने कलिंग युद्ध (जब उसका बौद्ध हो जाना बताया जाता है) के बारह वर्ष बाद की थी। अपने उपास्य की पवित्र भूमि के दर्शन मे इतनी देरी।

अशोक शिलालेखो का अध्ययन करने के पश्चात् डा. हरेकृष्ण मेहताब ने लिखा है—"अशोक के सारे अनुशासनो का अध्ययन करने पर विस्मित होना पडता है। वह विस्मयकारक विषय यह है कि उन्होने बौद्धधर्म-प्रचार के प्रसार की कथा का कहीं भी उल्लेख नही किया है।"

अशोक के चार-पाच लेखो मे २५६ अक आया है जैसे गुर्जरा (जिला दतिया), रूपनाथ (जिला जबलपुर), पानगुडरिया (जिला सीहोर) आदि। कुछ मे उसके पहले सावन शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु उसका भी अर्थ श्रावण को भूलकर उसके पड़ाव का २५६वां दिन कर दिया गया है। वास्तव में वह महावीर निर्वाण सवत् २५६ है। कोई भी यह गणना करके स्वय इसकी परीक्षा कर सकता है। महावीर का निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ था। पहला सवत् ५२६ मे पूर्ण हुआ। इसमे से २५६ घटाए तो २७० सख्या आई। अशोक का समय ईसा पूर्व २७४ से २३२ के लगभग है। इस प्रकार यह स्पष्ट होगा कि ईसा पूर्व २७० वह सन् है जब अशोक राज्य कर रहा था।

अशोक के दिल्ली या सप्तम लेख मे यह लिखा है कि वृक्ष लगाए गए हैं जो मनुष्यों तथा पशुओं को छाया प्रदान करेगे। जीवधारी अवश्य हैं। उसके धर्म नियम थे किसी जीव की हिंसा न की जाए। किसी जीव को आघात न पहुंचाया जाए। क्या ये भावनाएँ बौद्ध धर्म के अनुसार हैं जिसके प्रवर्तक ने स्वयं मास भक्षण किया था और अपने अनुयायियों को तीन प्रकार के मांस भक्षण की अनुमति

स्वयं दी थी। यदि यह अनुमति नही होती, तो बौद्धधर्म विदेशों मे नहीं फैल सकता था।

डॉ० हीरालाल जैन (भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृ० ३०६) लिखते हैं—"बराबरी पहाडी की दो गुफाएँ अशोक ने अपने राज्य के १२वें वर्ष में और तीसरी १६वें वर्ष में निर्माण कराई थी।" बराबरी पहाडियां बिहार मे हैं। ये गुफायें बौद्धों के लिए नही अपितु आजीविको के लिए निर्मित कराई गई थी जो कि जैन धर्म के निकट थे।

प्रसगवश यहां एक जैन कथा का उल्लेख किया जाता है जिसका उद्देश्य यह बताना है कि एक बिंदी लगा देने से कितना अनर्थ हो सकता है। अशोक ने एक पत्र अपने पुत्र कुणाल के नाम लिखा जिसमे यह कहा गया था कि कुमार अब पढे (अधीयताम्)। परन्तु यह पत्र उसकी बौद्ध रानी तिष्यरक्षिता के हाथ पड गया। उसने एक बिंदी लगाकर अधीयताम् कर दिया। जब यह पत्र कुणाल के पास विदिशा पहुचा, तो अशोक के आदेशानुसार कुणाल की आखें फोड दी गयी। कुणाल ने सगीत सीखा और पाटलिपुत्र आकर महल के नीचे बैठकर अपना मधुर सगीत प्रारम्भ किया। उसे सुनकर अशोक ने उसे महल मे बुलवाया किन्तु जब उसे अपने पुत्र की दुर्दशा का कारण मालूम हुआ, तो उसने तिष्यरक्षिता को जिंदा जला देने का आदेश दिया किन्तु कुछ शान्त होने पर उसने रानी, उसके पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा को देश निकाला दे दिया और वे श्रीलका पहुचे। विमाता के षड्यत्र सम्बन्धी यह कथा असम्भव तो नही लगती है। कुणाल से अशोक ने वर मागने को कहा। कुणाल ने अपने पुत्र सप्रति के लिए राज्य मांगा और अशोक ने संप्रति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया तथा आठ वर्षों तक सप्रति के अभिभावक के रूप मे राज्य किया। कुणाल अधा हो गया था यह तो ऐतिहासिक तथ्य है।

पुरातत्वविद डा० कृष्णदत्त बाजपेयी ने यह लिखा है कि तिष्यरक्षिता के जाली पत्र के सम्बन्ध मे सूचना बौद्ध ग्रथ दिव्यावदान मे भी उपलब्ध है।

सघ शब्द को लेकर इन शिलालेखो का सम्बन्ध अशोक से जोड़ा जाता है किन्तु यह भ्राति जैन और बौद्ध दोनों ही परंपराओं के इतिहास के समुचित ज्ञान के अभाव में हुई जान पडती है। यदि कोई बौद्ध सघ महापरिनिव्वाणसुत्त पढे, तो यह ज्ञात होगा कि गौतम बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को यह निर्देश दिया था कि उनके धर्म के संघ का संगठन वैशाली संघ के सगठन के आधार पर किया जाए। इस गणतत्र मे महावीर का जन्म हुआ था और वे बुद्ध से आयु मे बड़े किन्तु उनके समकालीन थे। उन्होने चतुर्विध संघ के रूप मे अपने अनुयायियो को सगठित किया था जिनमें मुनि, आर्यिका (साध्वी), श्रावक और श्राविका अर्थात् गृहस्थ स्त्री और पुरुष होते है। आज भी यह सघ व्यवस्था जीवित है। संघ बौद्धधर्म का मौलिक लक्षण नही है।

यदि तिष्यरक्षिता सम्बन्धी कथा को छोड दें तो भी यह तथ्य ही उभरता है कि अशोक अपनी पिछली और अगली पीढियो की भाति जैनधर्म के सिद्धांतो मे विश्वास रखने के साथ ही साथ अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था। शायद यही कारण है कि उसने अपने शिलालेखों मे ब्राह्मण श्रमण, आजीविका (जो जैनधर्म से बहुत अधिक साम्य रखते थे) और निर्ग्रन्थ (जैन) आदि का स्मरण किया है। शिलालेखो की शब्दावली भी जैनधर्म के अधिक निकट है। कुछ उदाहरण है—वाचोगुप्ति, सबोधि, मार्दव, शुचि (शौच), धम्म मगलम् (जैन लोग प्रति दिन चार प्रकार के मगलम् का उच्चारण आज भी करते है)। बुद्ध शब्द प्रयोग भी जैनधर्म मे किया जाता है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद डी० सी० सरकार का मत है —"The Jain saints are sometimes called Bauddhas, Kevlin, Siddha, Tathagata and Arhat." (P. 29, Select inscriptions)

अशोक ने पूरे भारत मे और सुदूर यवन देशो तक मे मनुष्यो तथा पशुओं के लिए छायादार पेड लगवाए और चिकित्सालय खोले किन्तु श्रीलका मे ऐसा कुछ भी नही किया। वह अपने शिलालेखो मे श्रीलका का नाम भी नही लेता है यह आश्चर्य की बात है।

अशोक के समय मे बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्थिति का आकलन दक्षिण भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासकार नीलकठ शास्त्री ने इस प्रकार लिखा है—"In the days

of Asoka, Buddhism was followed only by an obscure Minority in India like many other contemporary creeds .....Buddhism even in the days of Asoka was not a state religion."

अशोक के शिलालेख १२ (गिरनार) को लेकर यह कह दिया गया है कि उसके समय तक केरल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नही आया था क्योंकि वह उसका उल्लेख पड़ोसी राज्य के रूप में करता है। ऐसा कथन करने वाले विद्वान जरा उसका शिलालेख १३ देखे। उसमे उसने "निच" (नीचे) शब्द का प्रयोग किया है जिसका आशय यह है कि चोड, पंड, तबपनिय आदि उसके राज्य के निचले भाग मे हैं। जो राज्य सचमुच स्वतंत्र थे, उनके लिए उसने "राजा" (अंतियको योनराजा) शब्द का प्रयोग किया है। यदि निच पर ध्यान न दें तो भोज, अंध, पुलिंद, पितनिक आदि सारे ही राज्य जिनका उल्लेख शिलालेख १३ मे है, पड़ोसी राज्य हो जायेंगे। इसी प्रकार केरलपुत्र की भी स्थिति समझनी चाहिए। वैसे मूल शिलालेख मे "सतियपुतो केतलपुतो" का प्रयोग हुआ है सतियपुतो से क्या आशय है इसका ठीक-ठीक निर्णय नही हो सका है। केतलपुतो का रूपांतर झट से केरलपुत्र कर लिया गया है। लेख प्राकृत मे है और प्राकृत के नियमो के अनुसार "संस्कृत का र वर्ण प्राकृत मे ड, ण और र मे बदल जाता है।" (नेमिचन्द्र शास्त्री, अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृ० १२०)। अत यहाँ इन तीनो वर्णों मे से कोई होना चाहिए था। अगर इसे अपवाद मान लें तो भी केरलपुत्र नाम का कोई शासक हुआ है या किसी समय केरल का नाम केरलपुत्र रहा है यह बात गले नही उतरती है। कही ऐसा तो नही कि केरलपति को केरलपुत्र पढ़ लिया गया है। एक बात और भी ध्यान देने की है, वह यह कि सस्कृत 'च' के स्थान पर प्राकृत मे 'क' हो जाता है। इस दृष्टि से केतलपुतो का सस्कृत रूप चेरलपुत्र होना चाहिए। किन्तु हमे केरलपुत्र स्वीकार्य नही है। इसलिए यदि प्राकृत का सही पाठ चेरलपति माना जाए तो सारी आपत्तिया दूर हो जाती हैं। चेरल या चेरलपित का प्रयोग तर्क और व्यवहारसगत लगता है। गलत रूपांतर की यह स्थिति वैसी ही है जैसी कि "सातकर्णि" (आंध्र प्रदेश का एक शासक) का अनुवाद सात कानोवाला राजा अनुवाद कर देने से विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुई थी। विद्वानो को इस पर विचार करना चाहिए। जो भी हो, इस शिलालेख से यह आशय लेना चाहिए कि केरल मौर्य साम्राज्य के नीचे के भाग मे स्थित था न कि स्वतत्र राज्य था।

इधर कुछ शिलालेख ऐसे भी पाए गये हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि अशोक बौद्ध था। उसका एक आज्ञालेख ऐसा भी है जिसमे सात बौद्ध ग्रथो के नाम हैं। शिलालेख मे ग्रथो के नाम सचमुच ही आश्चर्य की बात है। कहीं ऐसा तो नही कि इस प्रकार के लेख जाली हों। पुरातत्वविद इस बात को जानते हैं कि जाली लेख या ताम्रपत्र भी पाए गये हैं। मास्को (कर्नाटक) शिलालेख की प्रथम पक्ति मे अशोक का नाम है किन्तु इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि इस लेख की पहली पक्ति मे असोकस जोड देने मे कोई कठिनाई नही हुई होगी। कर्नाटक मे बौद्ध धर्म और जैनधर्म के इतिहास को जानने वाले इस बात से परिचित हैं कि इन दोनो धर्मों मे एक युग मे तीव्र सघर्ष हुआ था। पूजनीय माने जाने वाले जैन तर्कशास्त्री अकलकदेव और बौद्ध आचार्य मे दीर्घ समय तक शास्त्रार्थ चला था तथा बौद्ध आचार्य उनके प्राणो के प्यासे हो गये थे। आश्चर्य नही कि अशोक का नाम बाद मे जोड दिया गया हो। बिहार की बराबर पहाडियो के शिलालेखो मे से "आजीविक" शब्द छेनी से काट देने का प्रयत्न किया गया है। शिलालेखो को घिस देने या उनके कुछ भागों को नष्ट कर देने के प्रयत्नो का आभास अनेक स्थानो पर होता है। भुवनेश्वर के भास्करेश्वर मन्दिर मे एक नौ फुट ऊँचा शिवलिंग है जिसकी पूजा होती है। यह अशोक के एक शिलालेख को काटकर बनाया गया बताया जाता है। धार्मिक असहिष्णुता के युग मे सब कुछ सम्भव हुआ होगा।

(क्रमशः)

परिग्रह : मूर्च्छाभाव

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

कहते हैं सत्य बड़ा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जन-मानस जानता है—मानता नही और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नही करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे—आपके सुलझे और निर्भीक विचारो को 'अनेकान्त' मे पढ़ता रहता हूं। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करता चलूं। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले—आप तो जैन है, आपने अपने को जैन नही लिखा—केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा—हां, मैं ऐसा ही लिखता हूं। इससे आप ऐसा न समझें कि मैं इस समुदाय का नही। मैं तो इसी मे पैदा हुआ हूं, बडा भी इसी में हुआ हूं और चाहता हूं मरूं भी यही। काश! लोग मुझे जैन होकर मरने दें! यानी **'ये तन जावे तो जावे, मुझे जैन-धर्म मिल जावे।'** मैंने कहा—पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा? यह मैं नही जानता। हां, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा—परिग्रह को कृश कर सकूं तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूं।

'जिन' और 'जैन' ये दोनों शब्द आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। जिन्होंने कर्मों पर विजय पाई हो, वे 'जिन' होते हैं और 'जिन' का धर्म 'जैन' होता है। मुख्यतः धर्म के लक्षण-प्रसंग मे **'वत्थु सहावो धम्मो'** और **'यः सत्वान् संसार दुःखतः उद्धृत्य उत्तमे (मोक्षे) सुखे धरति सः धर्मः'** ये दो लक्षण देखने मे आते हैं। जहां तक प्रथम लक्षण का सम्बन्ध है, वहां हमें कुछ नही कहना। क्योंकि वहां तो 'जिन' का अपना स्वभाव ही 'जैन' कहलाएगा। जैसे अग्नि का अपना अस्तित्व है वह उसके अपने धर्म उष्णत्व से है। न तो अग्नि उष्णत्व को छोड़ेगी और न ही उष्णत्व अग्नि को छोड़ेगा। ऐसे ही जिनका यह धर्म 'जैन' है, वे 'जिन' भी इसे न छोड़ेंगे और ना जैन ही छोड़ेगा। मोह रागादि परिग्रह को छोडने से 'जिन' हैं और उनका धर्म 'जैन' उन्ही मे रहेगा। और जो 'जिन' बनता जाएगा उसका धर्म जैन होता जाएगा। यह बात बड़ी ऊँची और अध्यात्म की है अतः हम इसे यही छोड़ते हैं। प्रसंग में तो जैन से हमारा आशय 'जिन' द्वारा प्रसारित उस धर्म से है जो जीवो को संसार के दुःखों से छुड़ाकर 'जिन' बना सके—मोक्ष सुख दिला सके। क्योंकि इस धर्म का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो इसे धारण करता है उसी को 'जैन' या 'जिन' बना देता है कहा भी है—**'जो अधीन को आप समान, करै न सो निन्दित धनवान।'**

वर्तमान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली-परिपाटी प्रचलित है, यदि उसमे सुधार आ जाय तो लौकिक-मानव बना जा सकता है। प्राचीन समय की सुधरी परिपाटी ही आज तक समाज और देश को एक सूत्र में बांधे रह सकी है। निःसन्देह उक्त नियमो के बिना न तो समाज सुरक्षित रह पाता और ना ही देश का उद्धार हुआ होता। लौकिक सुख-शान्ति भी इन्ही नियमो पर आधारित है। इसीलिए भारत के विभिन्न मत-मतान्तरो ने भी इन पर ही विशेष बल दिया। ताकि मानव, मानव बन सके और लौकिक सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रह सके। **पर जैन तीर्थंकरों की दृष्टि पारलौकिक सुख तक भी पहुंची।** उन्होंने जीवो को शाश्वत-परलोक—मोक्ष का मार्ग भी दर्शाया। उनका बताया मार्ग ऐसा है जिससे दोनो लोक सध सकते हैं। वह मार्ग है—मानव से 'जैन' और 'जिन' बनने का, **पूर्ण परिग्रह के छोड़ने का अर्थात् जब स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग किया जाता है तब मानव बना जाता है और जब परिग्रह की सीमा बांधी या परिग्रह का त्याग किया जाता है तब 'जैन' बना जाता है।** जैनधर्म मे जो दश धर्मों का वर्णन है उनमे भी पूर्ण-अपरिग्रह धर्म ही साध्य है, शेष धर्म उस

अपरिग्रह के पूरक ही है। कहा भी है—

'क्षमा मार्दव आर्जव भाव है, सत्य, शोच, संयम, तप, त्याग 'उपाय' है। आकिंचन ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं...।'

जब सत्य, शौच, संयम, तप और त्यागरूपी उपायों से मन को क्षमा, मार्दव, आर्जव रूप भावों मे ढाला जाता है तब आकिंचन्य (पूर्ण अपरिग्रह) धर्म प्राप्त होता है और तभी आत्मा— ब्रह्म (आत्मा) मे लीन (तन्मय) होता है। यह आत्मा मे लीनता (तद्रूपता) का होना ही 'जिन' या 'जैन' का रूप है। और इस प्राप्ति करने के लिए आस्रव से निवृत्ति पाकर संवर-निर्जरा के उपाय करने पड़ते है और वे सभी उपाय प्रवृत्ति रूप न होकर निवृत्ति रूप (जैसा कि ध्यान मे होता है) ही होते है। किन्ही अंशो मे हम आंशिक निवृत्ति करने वालो को भी 'जिन' या 'जैन' कह सकते है। कहा भी है—

'जिणा दुविहा सयलदेसजिणभेएण। खविय घाइकम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत सिद्धा अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस-जिणा तिव्व कसायेंदियमोहविजयादो।'— धवला—९, ४, १, १, १०।

जिन दो प्रकार के है—सकलजिन और देशजिन। घातिया कर्मों का क्षय करने वाले अरहंतो और सर्वकर्म-रहित सिद्धो को सकलजिन कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियो की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को देश-जिन कहा जाता है। उक्त गुणो की तर-तमता मे कथंचित देश-त्यागी— परिग्रह को कृश करने वाले श्रावकों को भी भावी नय से जैन मान सकते है, क्योंकि—मोक्षरूप उत्तम सुख मिलना परिग्रह कृश करने पर ही निर्भर है, फिर चाहे वह— परिग्रह अन्तरंग हो या बहिरंग या हिंसादि पापो रूप हो—सभी तो परिग्रह है।

ये तो 'जिन' की देन है, जो उन्होने वस्तुतत्व को बिना किसी भेद-भाव के उजागर किया और अपरिग्रह को सिरमौर रखा और अहिंसा आदि सभी मे इस अपरिग्रह को हेतु बताया। पिछले दिनो हम श्री खुशालचन्द गोरावाला का पत्र मिला है। पत्र का साराश यह है कि चारो कषायो और पाचो पापो मे कार्य कारण की व्यवस्था उल्टी है। कार्य निर्देश पहिले और कारण-निर्देश अन्त मे है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में अन्त की लोभ कषाय पूर्व की कषायों मे कारण है। लोभ (चाहे वह किसी लक्ष्य मे हो) के होने पर ही क्रोध, मान या मायाचार की प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापो मे भी अन्त का परिग्रह पाप पूर्व के पापों मे मूल कारण है। परिग्रह (चाहे वह किसी प्रकार का हो) के होने पर ही हिंसा, झूठ, चोरी या कुशील की प्रवृत्ति होगी। ये तो हम पहिले भी लिख चुके है कि—'तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः...ममेदमिति, हि सति सकल्पे रक्षणादयः सजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्य भाविनी तदर्थमनृत जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुन च कर्मणि प्रतिपद्यते।'—त० रा० वा० ७।१७।५ सर्व दोष परिग्रह मूलक है। यह मेरा है, ऐसे संकल्प मे रक्षण आदि होते है उनमे हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म मे प्रवृत्त होता है, आदि।

आचार्यों ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। और यहा मूर्च्छा से तात्पर्य १४ प्रकार के परिग्रह से है। मूर्च्छा ममत्व भाव को कहते है। और ममत्व सब परिग्रहो मे मूल है। अरति, शोक, भयादि भी इसी से होते है। इसी लिए ममत्व का परिहार करना चाहिए। राग की मुख्यता के कारण ही जिन भगवान को भी वीत द्वेष न कह कर वीतरागी कहा गया है। यदि प्राणी का राग बीत जाय— मूर्च्छा भाव बीत जाय तो वह 'जिन' हो जाय। जिनमार्ग मे परिग्रह को सर्व पापो का मूल बताया गया है और परिग्रह त्यागी को ही 'जिन' और 'जैन' का दर्जा दिया गया है।

कुछ लोग रागादि को हिंसा और रागादि के अभाव को अहिंसा माने बैठे है। और हिंसा व परिग्रह मे भेद नही कर रहे। ऐसे लोगो का कहना है कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

'अप्रादुर्भावः खलु रागदीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेपः।।

ऐसे लोगों को सूक्ष्म दृष्टि से कार्य-कारण की व्यवस्था को देखना चाहिए। आचार्य ने यहां कारणरूप रागादिक मे कार्यरूप हिंसा का उपचार किया है। रागादिक स्वयं

हिंसा नही है अपितु हिंसा मे कारण है। इसीलिए आगे चलकर इन्ही आचार्य ने कहा है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा हरवस्तु निबधना भवति पुंसः।'
'आरम्यकर्तृमकृतापि फलति हिंमानुभावेन।'
'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।'
यत्खलुकषाययोगात् प्राणाना द्रव्य भावरूपाणाम्।'

—पुरुषा०

हिंसा पर-वस्तु (रागादि) के कारणो से होनी है हिंसा कषाय भावो के अनुसार होती है। कषाय के योग से द्रव्य-भावरूप प्राणो का घात होता है। और सकषाय जीव हिंसक (हिंसा से करने वाला) होता है।

जो लोग ध्यान के विषय मे किसी बिन्दु पर मन को लगाने की बात करते है उसमे भी आस्रव भाव होता है फिर जो दीर्घ संसारी है, ऐसे लोगो ने तो ध्यान-प्रचार के बहाने आज देश-विदेशो मे भी काफी हलचल मचा रखी है, जगह-जगह ध्यानकेन्द्रो की स्थापना की है। वहा शांति के इच्छुक जनसाधारण मन शान्ति हेतु जाते है। पर वहाँ वे वह कुछ नहीं पा सकते जो उन्हे जिन, जैनी या अपरिग्रही होने पर—सब ओर से मन हटाने पर मिल सकता है। वहां आत्मा का आत्मदर्शन मिलेगा और वहा उन्हे परिग्रहरूपी पर-विकारी भाव मिलेंगे। फिर चाहे वे विकारी भाव व्यवहारी दृष्टि मे—कर्मशृंखलारूप मे 'शुभ' नाम से ही प्रसिद्ध क्यों न हो। वास्तव मे तो वे बधरूप होने से अशुभ ही है; कहा भी है—

'कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाणह कुसील।
कह त होइ सुसील जे ससारं पवेसेदि॥'

—समयसार ४.१।१४५

अशुभ कर्म कुशील—बुरा है और शुभ कर्म सुशील—अच्छा है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो कर्म जीव को ससार मे प्रवेश कराता है, वह किस प्रकार सुशील—अच्छा हो सकता है? अर्थात् अच्छा नही हो सकता।

उक्त प्रसग से तात्पर्य ऐसा ही है कि यदि जीव परिग्रह—आस्रव जनक क्रिया को त्याग कर सवर निर्जरा मे प्रयत्नशील हो—सभी प्रकार विकल्पो को छोड़कर स्व मे आए तो इसे जिन या जैन बनने मे देर न लगे। आचार्यों ने स्व मे आने के मार्ग रूप संवर निर्जरा के जिन कारणो का निर्देश किया है, वे सभी कारण परिग्रह निवृत्तिरूप हैं, किसी मे भी हिंसा, झूठ, चोरी जैसे किसी परिग्रह का सचय नही। तथाहि—'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा-परीषह जय चारित्रैः।' 'तपसा निर्जरा च।' गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से सवर होता है और तप से सवर और निर्जरा दोनो होते है। उक्त क्रियाओ मे प्रवृत्ति भी निवृत्ति का स्थान रखती है—सभी मे पर—परिग्रह त्याग और स्व मे आना है। तथाहि—

गुप्ति—'यत. ससारकारणादात्मनो गोपन सा गुप्तिः।'

—रा० वा० ६।२।१

जिसके बल से ससार के कारणो से आत्मा का गोपन (रक्षण) होता है वह गुप्ति है।

मनोगुप्ति—'जो रागादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।'

वचोगुप्ति—'अलियादिणियत्ती वा मौण वा होइ वचिगुत्ती।'

—नि० सा० ६६

कायगुप्ति—'काय किरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगेगुत्ती।'

—नि० सा० ७०

समिति—'निज परम तत्त्व निरत सहज परमबोधादि परम धर्माणा सहति समिति। —नि सा.ता.वृ. ६१

'स्व स्वरूपे सम्यगितो गतः परिणत. समितिः।'

—प्र० सा० ता० वृ० २४०

'अनत ज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिंतन तन्मयत्वेन अयन गमन परिणमन समिति।' —प्र. स. टी. ३५

धर्म— भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मुभणेविणु लेहु।'

—प० प्र० मू० २/६८

'मिथ्यात्व रागादि ससरणरूपेण भावससारेप्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्य धरतीति धम.।'

—प्र० सा० ता० वृ० ७।६।१६

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मम्। —रत्न० ३

'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥'

—प्र० सा० ७

अनुप्रेक्षा—'कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुपेक्खणा नाम।' ध. ६,४,१,५५

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

मोक्षमार्ग में चिन्तनीय विकृतियाँ

जिन शासन के आध्यात्मिक पक्ष मे 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग.' कहा है। पर, आज तीनों की व्याख्याओं मे बदलाव होता जैसा प्रतीत होने लगा है। कुछ लोग तो 'णाणिपुणजाण तिण्णि वि अप्पाण चेव णिच्छयदो' की दुहाई देकर चारित्रादि की उपेक्षा कर, मात्र एक सम्यग्दर्शन प्राप्ति के प्रयत्न का उपदेश देने लगे है। उनका तर्क है---'एकहि साधे सब सधे।' फिर इस मार्ग मे उन्हे सहूलियत यह भी दिखी है कि ज्ञान और चारित्र की तो अन्य लोगो को पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन की पहिचान होना केवलीज्ञानगम्य है। फलत. चाहे जिसे भी सम्यग्दृष्टि होने का सार्टीफिकेट देना सरल है। इसमें वह भी खुश और स्वय भी चारित्रधारण से बचना सहज। क्योकि उनकी दृष्टि मे चारित्रधारण करना कष्ट साध्य है—इसमे तो त्याग करना पडता है जो इनके सग्रह करने जैसे ध्येय से विपरीत है। चारित्र की उपेक्षा करने का तरीका सम्यग्दर्शन मात्र को आगे करने के सिवाय और हो भी क्या सकता है?

पर, असलियत यह है कि सम्यग्दर्शन प्रयत्नसाध्य मात्र नही है वह तो अभ्यन्तर मे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की और श्रद्धानरूप आचरण, परिणामों की सरलता आदि की उपस्थिति मे स्वय होना है। ऐसा कदाचित् भी नही है कि जीव बाह्य पदार्थों के प्रति तीव्र रागादि और परिग्रह इकट्ठा करने से विराम न ले और चर्चा मात्र मे सम्यग्दर्शन हो जाय। मात्र सम्यग्दर्शन की चर्चा ने तो चारित्र का सफाया ही कर दिया। जब कि मोक्षमार्ग मे चारित्र भी जरूरी है और लोक हित मे भी। कहा भी है—'चारित्त खलु धम्मो।'

कतिपय लोगो ने तो तीनों रत्नत्रय के रूपो मे बदलाव जैसा हो कर दिया है। कही आत्मानुभूति (जो स्वय मे त्रयीरूप है) को मात्र अकेले सम्यग्दर्शन का लक्षण घोषित कर दिया है। तो कही ज्ञान के मूलस्रोत आगम के मूल शब्द-रूपो को एकांगी कर या आगम की मनमानी व्याख्याएँ कर उन्हें विकृत किया जा रहा है और कहीं चारित्र को अपनी स्वच्छन्द सुख-सुविधानुसार आडम्बर जुटाने, आगम-विरुद्ध स्थानो को स्थायी आवास बनाने आदि तक मोड दिया जा रहा है।

अभी किसी ने हमसे 'साहू' शब्द का अर्थ पूछा है। उनका कहना है कि किसी ने 'समयसार' की सोलहवी गाथा मे गृहीत प्राकृत के 'साहू' शब्द का अर्थ सज्जन या सत्पुरुष के रूप मे प्रचारित किया है। वे लिखते हैं कि आप स्पष्ट करे कि दि० प्राकृत आगमों में 'साहू' शब्द २८ मूल गुणधारी मुनियो के लिए प्रयुक्त है या सर्वसाधारण सज्जन पुरुष के लिए प्रयुक्त है? खैर, इसका स्पष्टीकरण तो हम किसी स्वतत्र अन्य लेख मे करेंगे कि दि० आगम मे प्राकृत भाषा का 'साहू' शब्द 'मुनि' के लिए ही प्रयुक्त है। यदि कदाचित् संस्कृत-छाया 'साधु' के संस्कृत अर्थ (सज्जन) वत् 'साहू' का भी सज्जन अर्थ लिया जायगा तब तो णमोकार मत्र मे गृहीत 'साहू' से लोकमान्य सभी सज्जन (अपेक्षा दृष्टि से) परमेष्ठी श्रेणी मे आ जाएँगे और सभी को नमस्कार होगा। आदि।

श्रावक के दैनिक धर्माचार एव अधिकारो को लेकर भी अनेको विवाद उठते रहे है। अभी ही भगवान बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के अधिकारी व्यक्तित्व की चर्चा को लेकर हमे जयपुर से लेख और पत्र मिले है। लेख 'वीरवाणी' एव 'समन्वयवाणी' मे छप चुका है। पत्र मे हमे लिखा है—इस लेख को कोई निर्भीक सम्पादक ही अपने पत्र मे स्थान देगा क्योकि समाज का नेतृत्व इसको पसन्द नही करेगा।'

इससे क्या हम ऐसा समझे कि यद्यपि सब लोग नही, तो कुछ तो ऐसे चिन्तक है ही जो नेतृत्व मे पूरा भरोसा

नहीं रखते ? पर प्रासंगिक प्रस्ताव मे अभिषेक के लिए अण्डा, मांस, शराब के सेवन न करने और इनसे आजीविका न कमाने की शर्त थी और यह जैनाचार की नीव है—इसे नेता भी चाहते होंगे। वहा तो कुछ नेता और स्वय श्री जगद्गुरु (?) कर्मयोगी स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी भी मौजूद थे और लेखक के अनुसार वहां किसी ने विरोध भी नही किया। ऐसे मे लेखक के मन मे नेतृत्व के प्रति सन्देह की रेखा क्यो ? हम तो अब तक लेखक को भी नेतृत्व की श्रेणी मे आंकते रहे है। फिर लेखक की उक्त शर्तें तो जन्मनः दिगम्बर मात्र होने जैसी शर्त से कही अधिक दृढ है और सर्वथा धर्मानुकूल भी। खैर, आगे आगे देखिए होता है क्या।'

ऐसे ही उस दिन एक सज्जन पूछने लगे—'आज कल श्रेष्ठ और भ्रष्ट दोनो प्रकार के त्यागियो की चर्चा सामाजिक पत्रो मे पढने को मिलती है तो आप हमे बताइये कि चर्चित किन्ही भ्रष्ट त्यागियो को आहार देना चाहिए या नही ? हमने कहा भ्रष्ट तो साधारण श्रावको मे भी है और त्यागियो मे भी है—आप त्यागियो को ही दोष क्यो देते है ? हम तो पद के अनुकूल क्रिया न पालने वालो को भ्रष्ट ही मानते है, फिर चाहे वे साधारण नियमधारी श्रावक हों या पूर्ण त्यागी। पर, जहाँ तक आहार देने और न देने की बात है, हम तो 'आहारमात्र प्रदानेतु का परीक्षा' के अनुयायी है और सभी को आहार देने के पक्ष मे है। यदि पात्र योग्य है तो दाता का कल्याण है और पात्र अयोग्य है तब भी दाता का कल्याण इसलिए है कि वह परिग्रह के भार से तो हल्का हो ही जाता है—उसका द्रव्य तो किसी के काम आ ही जाता है। स्मरण रहे कि हमारे कमाए द्रव्य मे हमारे अनजाने मे ऐसा भी द्रव्य आ जाता है, जो न्यायोचित श्रेणी मे सम्मिलित न हो—ऐसा द्रव्य सहज मे इसी बहाने निकल जाता हो। लोग भी ऐसा ही मानते है कि न्याय की कमाई सत्पात्र को जाती है और अन्याय की असत्कार्य में। दाता दोनों भांति ही पापमुक्त होता है। इसलिए आहार देना चाहिए। हाँ, विधि विचारणीय हो सकती है।

हम कई बार सोचते रहे है कि हमने अपने बुजुर्गों और धर्म प्रेमियो की कृपा से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर मुनिराज और उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक पूज्य न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसाद वर्णी के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त किया। पर, आज के हम बुजुर्गों की करनी से क्या हमारी सन्तान को उक्त आदर्श त्यागियो के स्थान पर ऐसे ही त्यागियो के दर्शन मिलेगे जिनके धर्म-विरुद्ध अपवादों के चर्चे प्रायः जब कभी समाचार पत्रो मे भी प्रकाशित होते रहते हैं और जिन अपवादों को छुपाने के लिए हम कथित उपगूहन अंग (?) पालन कर अपनी सन्तान की उपस्थिति मे—उन त्यागियो की भक्ति, सेवा में उनके पीछे दौड़ें लगाते रहते है। क्या हमने कभी सोचा है कि—हमारी भावी पीढ़ी के लिए क्या हम ऐसे त्यागियो के ही आदर्श छोड जाएँगे ? कही ऐसा न हो कि हमारी करनी से हमारे त्यागियो—गुरुओं का रूप ही बदल जाए और सतान कहे कि हमारे गुरुओं का सच्चा रूप यही होता है और इस रूप को ही हमारे पूर्वज अपनाते रहे है—परिग्रही, सग्रही और आडम्बरी। ऐसे में हम स्वय ही सच्चे गुरु के स्वरूप के लोप का पाप अपने सिर लेगे और धर्म मार्ग का ह्रास होगा सो अलग से।

ऐसे ही पहिले जब 'अकिंचित्कर' पुस्तक निकली थी (जो आज भी विद्वानो मे विवादस्थ है) तब हमने सकेत दिया था कि - विद्वद्गम्य गूढ चर्चा को जन-साधारण मे प्रचारित करने से तो जनसाधारण मिथ्यात्व को अकिंचित्कर मानकर पद्मावती आदि देवियो को पूजने लगेगा। वह बात अब साकार फलित होने लगी है वीतराग मार्ग का अवलम्बन लेने वाले साधु तक अब रागवर्धिनी प्रवृत्ति के प्रचार मे लग गये हैं। अभी हमे गणधराचार्य पदवीधर श्री कुन्थुसागर जी रचित ९६ पेजी पुस्तक 'नवरात्रि पूजाविधान' (पद्मावती शुक्रवार व्रत उद्यापन) मिली है। इसमें अष्टद्रव्यो से पद्मावती-पूजा का विधान है और पद्मावती के सहस्रनाम गिनाकर उन्हे पृथक्-पृथक् अर्घ्य है। पुस्तक छन्दो मे है। जैसे जैनेतर नव-रात्रि के दिनो में अन्य देवियो को पूजते है, वैसे जैनी उन दिनो पद्मावती को पूजेगे और वीतरागी की महिमा का ह्रास

होगा। जैनी विचारें कि यह सब क्या हो रहा है और कौन-सा वर्ग ऐसे मार्ग प्रशस्त कर रहा है? हमे तो आश्चर्य है कि भगवान-भक्त कही जाने वाली पद्मावती कैसे भगवान के समक्ष बैठकर अपनी पूजा करा भगवान का तिरस्कार करवा रही है। क्या वह भक्तों को स्वप्न में ऐसी ताड़ना नहीं दे सकती कि तुम मेरी पूजा कर मेरे समक्ष भगवान की ऐसी अवहेलना करोगे तो तुम्हारा भला न होगा—तुम वीतरागी मार्ग से च्युत हो जाओगे।

यह तो हमने चन्द विकृतियो की झलक मात्र दी है, ऐसी ज्ञात-अज्ञात ढेर सारी विकृतियो का पुलन्दा भी सहज ही बाँधा जा सकता है जिसमे सुधार करने की जरूरत है। पर, हमारा लम्बा अनुभव है कि—अज्ञ अपनी भेड़ चाल न छोड़ सकेंगे और दोनो हाथो लड्डू लेने के धुनी कुछ श्रावक अपनी गंगा-जमुनी (दुरंगी) प्रकृतिवश सुधार की ओर न बढ़ सकेंगे—पैसे के धुनी कुछ ज्ञानी भी शायद इसी श्रेणी मे रहें। सम्भव है हमारी स्पष्टवादिता की परिधि मे आने वाले 'दाढ़ी में तिनका' जैसे लोगो को हमारी कथनी आतंकवादी भाषा भी लगे या वे हमे अपमानित भी करें। पर, फिर भी हम लिखने को मजबूर हैं। यतः हमारे सामने लिखा है—'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' और उससे हमारा ध्यान क्षण भर भी नही हटता। धन्यवाद

—सम्पादक

(पृ० २६ का शेषांश)

परीषहजय—'क्षुधादि वेदनानां तीव्रोदयेऽपि ···समतारूप परमसामायिकेन··· निजपरमात्मात्मा भावना संजात निर्विकार नित्यानन्दलक्षणसुखामृत संवित्तेरचलनं स परीषह जयः।'

—प्र० सं० टी० ३५

चारित्र—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः।' —प्र० सा० वृ० ७

तप—'इच्छानिरोधस्तपः।' —त० सू०

मन की रागादिक से निवृत्ति होना मनोगुप्ति है। झूठ आदि से निवृत्ति या मौन वचनगुप्ति है। काय की क्रिया से निवृत्ति—कायोत्सर्ग कायगुप्ति है। निज परमात्मतत्त्व मे लीन सहज परम ज्ञानादि परमधर्मों का समूह समिति है। स्व-स्वरूप मे ठीक प्रकार से गत—प्राप्त समित कहलाता है। अनन्त ज्ञानादि स्वभावी निज आत्मा में, रागादि विभावों के त्यागपूर्वक, लीन होना, तन्मय होना परिणति होना समिति है। अपना शुद्ध आत्म-भाव धर्म है उसमे रहो। जो प्राणी को मिथ्यात्व रागादिरूप संसार से उठाकर निर्विकार शुद्ध चैतन्य मे धरे वह धर्म है, रत्नत्रय धर्म है। चारित्र निश्चय मे धर्म है समता को धर्म कहा है। मोह-क्षोभ से रहित निज आत्मा ही समय है—आत्मा है, समताभाव है, धर्म है। कर्म की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जागत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षण है। शरीर भोगादि की अस्थिरता आदि का चिंतन अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदनाओ के तीव्रोदय होने पर भी—समतारूप परमसामायिक से····· निज परम आत्म की भावना से उत्पन्न नित्यानन्दमयसुखामृत से चलायमान न होना परीषह जय है। स्वरूप मे आचरण चारित्र है अर्थात् अर्थात् स्वात्मप्रवृत्ति चारित्र है। इच्छा का निरोध तप है।

उक्त सभी उद्धरणो मे (जो संवर-निर्जरा के साधनभूत हैं) परिग्रह की निवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति ही मुख्यतः परिलक्षित होती है और उक्त व्यवस्थाओ मे प्रयत्नशील किन्हीं व्यक्तियो को ही कदाचित् हम किन्ही अपेक्षाओ से देशजिन या जैन कह सकते है। पर, आज तो जैनाचार से सर्वथा अछूता व्यक्ति भी किसी सम्प्रदाय विशेष मे उत्पन्न होने मात्र से ही अपने को जैन घोषित करने का दम्भ बनाए बैठा है और विडम्बना यह कि इस प्रकार 'जैन' को सम्प्रदाय बनाकर भी कुछ लोग इसे बड़े गर्व से धर्म का नाम दे रहे है—कह रहे है 'जैन सम्प्रदाय नही, अपितु धर्म है। और वे स्वयं भी जैनी है। जब कि इस धर्म के नियमो के पालन मे उन्हे कोई सरोकार नही। यह तो ऐसा ही स्व-वचन बाधित वचन है जैसे कोई पुरुष बांझ स्त्री का लक्षण करते हुए कहे कि—'जिसके सन्तान न हो उसे बाँझ कहते हैं जैसे—'मेरी माँ।'—भला बाँझ है तो माँ कैसे और वह उसका पुत्र कैसे? इसी प्रकार यदि वह सम्प्रदायी है तो जैन कैसे?

हमारा कहना तो यही है कि यदि किसी को सच्चा जैन बनना है तो पहिले वह भाव और द्रव्य दोनो प्रकार के परिग्रहो मे सकोच करे। इनमे सकोच होते ही उसमे अहिंसादि सब व्रतो का संचार होगा—क्योंकि सभी पापो की जननी परिग्रह है और 'जैन-संस्कृति' का मूल अपरिग्रह है।

संचयित-ज्ञानकण

- जिन कार्यों के करने मे आकुलता हो उन्हें कदापि न करो। चाहे वह अशुभ हों, चाहे शुभ हों,
- परिग्रह लेने में दुःख, देने में दुःख, भोगने में दुःख, रक्षा में दुःख, धरने में दुःख, सड़ने में दुःख। धिक् है इस दुखमय परिग्रह को।
- स्व-परिणामो द्वारा अर्जित ससार को पर का बताना महान् अन्याय है।
- विश्व की अशान्ति देख अशान्त न होना, यहाँ अशान्ति ही होती है। नमक सर्वाङ्ग-क्षारमय होता है। संसार की जितनी पर्याएँ हैं सब दुखमय हैं, इनमें सुख की कल्पना भ्रम है।
- जैसे विष करिके लिप्त जो वाण ताकरि बेध्यो जो पुरुष तिनिका इलाज नही, मार्या ही जाय है। तैसें मिथ्यात्वशल्यकरि बेध्या पुरुष हूं तीव्र वेदना करि निगोद में तथा नरक, तिर्यंच में अनंतानन्त काल दुःख अनुभवै है।
- जो लिंगी बहुत मानकषायकरि गर्ववान भया निरन्तर कलह करै है, वाद करै है, द्यूत-क्रीड़ा करै है, सो नरक कूं प्राप्त होय है।
- *जिसके हृदय में पर द्रव्य के विषय में अणुमात्र भी राग विद्यमान है वह ११ अंग और ९ पूर्वों का जानकार होकर भी अपने आत्मा को नहीं जानता वह तीव्र मिथ्यात्वी है।*

संकलन :

श्री शान्तिलाल जैन कागजी के सौजन्य से

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तीलाल जैन कागजी के सौजन्य से, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Basic Tenents of Jainism : By Shri Dashrath Jain Advocate. 5-00

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष - 46 किरण - 4	अक्तूबर-दिसम्बर-93
वर्ष - 47 किरण - 1	जनवरी- मार्च-94

परम्परित मूल आगम रक्षा विशेषांक

* * *

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002

क्या कहां है ?

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वर्ष 46 कि॰ 4	वीर-निर्वाण संवत् २५१९, वि॰ सं॰ २०५०	अक्टूबर-93
वर्ष 47 कि॰ 1	पारम्परित मूल आगम रक्षा विशेषांक	मार्च-94

जिनवाणी स्तुति

देवि श्री श्रुतदेवते भगवती त्वत्पाद पंकेरुह-
द्वन्दे यामि शिलीमुखत्वमपरं भक्त्या मया प्रार्थ्यते ।
मातश्चेतसि तिष्ठ मे जिनमुखोद्भूते सदा त्राहि माम् ,
दृग्दानेन मयि प्रसीद भवतीं संपूजयामोऽधुना ।।

अर्थ – हे देवि, हेश्रुतदेवते, हे भगवती, तेरे चरण कमलों में भौंरे की तरह मुझे स्नेह है । हे माता, मेरी प्रार्थना है कि – तुम सदा मेरे चित्त में बनी रहो । हे जिनमुख से उत्पन्न जिनवाणी, तुम सदा मेरी रक्षा करो और मेरी ओर देखकर मुझ पर प्रसन्न होओ । मैं अब आपकी पूजा करता हूँ ।

शारदा स्तवन

वीर हिमाचल तैं निकसी, गुरु गौतम के मुख-कुंड ढरी है ।
मोह महाचल भेद चली, जगकी जड़तातप दूर करी है ।।
ज्ञान पयोनिधि मांहि रली, बहुभंग-तरंगनिसों उछरी है ।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अंजुलिकर शीस धरी है ।।
या जग मंदिर में अनिवार अज्ञान अंधेर छयो अति भारी ।
श्री जिनकी धुनिदीप-शिखासम, जो नहिं होत प्रकाशन हारी ।।
तो किस भांति पदारथ पांति कहां रहते लहते अविचारी ।
या विधि संत कहैं, धनि हैं, धनि हैं जिन बैन बड़े उपकारी ।।
जा वाणी के ज्ञान से सूझै लोकालोक ।
सो जिनवाणी मस्तक चढौ सदा देत हूं धोक ।।

प्रस्तुत अंक क्यों ?

पाठकों की यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि 'अनेकान्त' का प्रस्तुत अंक **'परम्परित मूल आगम रक्षा'** विशेषांक क्यों ?

कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली जैसी सामाजिक संस्था से प्रथमबार प्रकाशित ''प्राकृत विद्या'' पत्रिका के जुलाई-दिसम्बर ९३ के अंक में पत्र के संपादक श्री बलभद्र जैन ने अपने संपादकीय लेख 'सामाजिक प्रदूषण' शीर्षक के अन्तर्गत वीर सेवा मंदिर पर अनर्गल, मिथ्या एवं भ्रामक आरोपो की बौछार करके उसे प्रदूषण की लपेट में लेने का असफल प्रयास किया है और सस्ती प्रशंसा लूटने के लिए 'प्राकृत विद्या' पत्रिका के प्रचार-प्रसार का एक नमूना प्रस्तुत किया है ।

स्मरण रहे कि संपादक महोदय के मतानुसार मुद्रित 'कुन्दकुन्द' भाषा अत्यंत भ्रष्ट एवं अशुद्ध है । इसलिए उन्होंने पूर्व आचार्यो की उपेक्षा करके मूल आगम भाषा को व्याकरण द्वारा शुद्धिकरण के नाम पर सन् १९७८ से प्रदूषण फैलाने का दुस्साहसपूर्ण कार्य किया है । उनका उक्त अंक भी प्रदूषण फैलाने का एक और नमूना है ।

वीर सेवा मंदिर मूल आगमों की सुरक्षा के लिए कृत-संकल्प है । इसलिए हमने उक्त आत्मघाती प्रदूषण को साफ करने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु उन्हें यह स्वच्छता रास नहीं आई । उन्होंने अहंकार वश क्रोध के वशीभूत होकर डराकर, धमकाकर व उत्तेजित होकर अपमानित करने वाली भाषा के शस्त्र द्वारा वीर सेवा मंदिर की आवाज़ को दबाने के प्रयत्न किए और कराए और अब उक्त संपादकीय लेख द्वारा पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर मिथ्या आरोपों की झड़ी लगा दी । उनकी मुख्य शिकायत यह भी रही है कि हम उनके पत्रों के उत्तर नहीं देते यद्यपि उनके सभी पत्रों के उत्तर दिए गए हैं ।

अत: वीर सेवा मंदिर ने प्रस्तुत विशेषांक में अब तक घटित वस्तुस्थिति सप्रमाण प्रकाशित करने का निर्णय लिया ताकि समाज भ्रम में न पड़े और असलियत जानकर आगम रक्षा में सतर्क हो सके ।

—भारत भूषण जैन, एडवोकेट
प्रकाशक

सामाजिक प्रदूषण का जिम्मेदार कौन ?

"प्राकृतविद्या" के जुलाई-दिसम्बर 93 के अंक में "सामाजिक प्रदूषण" के अन्तर्गत पण्डित बलभद्र जैन का वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारियों, सदस्यों तथा अनेकान्त के संपादक के विरुद्ध दुराग्रह युक्त संपादकीय पढ़कर बहुत विस्मय हुआ । उनका सम्पूर्ण लेख न केवल मिथ्या आरोपों, असत्य वचनों से भरा है, अपितु नितान्त भ्रामक तथा विरोधाभासी भी है । आश्चर्य तो इस बात का है कि विद्वान् लोग भी मिथ्या और असत्य आरोपों का सहारा लेने लगे और झूठ का अम्बार लगा कर खरगोश के सींग सिद्ध करने की प्रवीणता दिखाने लगे ।

नितान्त असत्य

पण्डित बलभद्र जैन का यह कहना एकदम निराधार है कि वे कभी वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी के सदस्य एवं "अनेकान्त" के सम्पादक रहे हैं । संस्था के रिकार्ड के अनुसार वे यहां किसी पद पर नहीं रहे बल्कि महासचिव श्री महेन्द्रसेन जैनी के कार्य-काल में पण्डित बलभद्र जी के वीर सेवा मन्दिर में निःशुल्क आवास प्रदान करने के अनुरोध को समाज रत्न साहू शान्तिप्रसाद जैन की अध्यक्षता में दिनांक 4-2-74 एवं समाज श्रेष्ठि श्री श्यामलाल जैन ठेकेदार की अध्यक्षता में दिनांक 30-5-74 को हुई कार्यकारिणी की बैठकों में इस कारण अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ तथा मुनि-संघ कमेटी से वेतन के रूप में पर्याप्त धन मिलता था ।

यह तो हम नहीं समझ पा रहे हैं कि असत्य कथन से पण्डित बलभद्र जी को किस लक्ष्य की प्राप्ति हो रही है । इसके दो ही कारण

हो सकते हैं, पहला तो यह कि असत्य कथन को बार बार दोहराने से उन्हें वह सत्य प्रतीत होने लगा हो या फिर यह कि उनकी पत्रकारिता की कला का एक पहलू हो कि इसे पढ़कर समाज के कुछ लोग तो उनके असत्य को सत्य मान ही लेंगे । हर व्यक्ति तो वीर सेवा मन्दिर से स्पष्टीकरण नहीं मांगेगा ।

हमारी कार्यप्रणाली

किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र हनन में हम विश्वास नहीं रखते, किंतु मिथ्या एवं भ्रामक धारणाओं का निराकरण करना हमारा कर्तव्य है । वीर सेवा मन्दिर एक प्राचीन संस्था है । इसका अपना गौरवपूर्ण इतिहास है । इसके अपने विशेष उद्देश्य और कार्यक्रम हैं । यह संस्था आगम की रक्षार्थ सदैव तत्पर रही है और आगे भी रहेगी । इस संस्था को अपनी कार्यप्रणाली के लिए पण्डित बलभद्र जी के अवांछित परामर्श अथवा प्रमाण पत्र की आवश्यकता कदापि नहीं है ।

विरोधाभासी वक्तव्य

प्राकृतविद्या के पृष्ठ ४ पर पण्डित बलभद्र जी ने लिखा है कि हमने एक भी शब्द अपनी मर्ज़ी से घटाया बढ़ाया नहीं है और मूड़बिद्री की ताडपत्री को हमने आदर्श प्रति माना है । पृष्ठ 4 पर वे लिखते हैं कि कई शब्द छूट गये 'अत: व्याकरण और छन्द शास्त्र की दृष्टि से उन्हें शुद्ध किया' ।

इनका यह कथन कितना विरोधाभासी है कि एक ओर तो कहते हैं कि "घटाया बढ़ाया नहीं और दूसरी तरफ कहते हैं कि व्याकरण और छन्दशास्त्र की दृष्टि से शुद्ध किया" । वीर सेवा मन्दिर ने अपने 13 मार्च 1993 के पत्र में पण्डित बलभद्र जी की मांग से सहमत होते

हुए स्पष्ट लिखा था कि आप मूढ़बिद्री की ताडपत्री की छाया प्रति भिजवा दें । यदि सन्दर्भित समयसार उसी ताड़पत्री के अनुरूप है तो वीर सेवा मन्दिर अपनी सभी आपत्तियां सखेद वापस ले लेगा, किन्तु आज तक ताडपत्री की प्रतिलिपि नहीं भेजी गयी । वास्तविकता तो यह है कि उनका यह समयसार ग्रन्थ किसी भी अन्य उपलब्ध समयसार की प्रामाणिक प्रतिलिपि नहीं है क्योंकि संपादक समयसार महोदय ने स्पष्ट लिखा है कि व्याकरण के आधार पर गाथाओं को संशोधित कर शब्दों में परिवर्तन किया गया है ।

मेरा समयसार – पण्डित बलभद्र जैन

पण्डित बलभद्र जी सन्दर्भित ग्रन्थ को "मेरा समयसार" कहते हैं, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने संपादकीय में कई जगह किया है । वास्तव में उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को अपना समयसार बना दिया है । सम्भवतः कालान्तर में यह समयसार उनके द्वारा रचित ही जाना जाने लगेगा । लोकेषणा और वित्तेषणा लोगों से क्या कुछ नहीं करा देती ? वे लिखते हैं कि "आश्चर्य की बात है कि उन्होंने मेरा नाम नहीं दिया" । वास्तविकता यह है कि यह एक शास्त्रीय विषय था जिसका समाधान भी शास्त्रज्ञ ही करते, किन्तु बलभद्र जी इसे अपने ऊपर एक प्रहार समझ रहे हैं, यह दुर्भाग्य ही है । हमें उनका नाम देने में कोई डर नहीं है ।

हमारा मन्तव्य

शास्त्रीय चिन्तन और मनन के लिए पण्डित पद्मचन्द शास्त्री का लेख "परम्परित मूल आगम रक्षा प्रसंग" के अन्तर्गत इसी अंक में पृष्ठ 36 पर दिया जा रहा है । वीर सेवा मन्दिर का मन्तव्य इस प्रकार है :

एक ही ग्रन्थ में एक शब्द को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में दिया गया है । वे सभी ठीक हैं । उनका वही रूप रहना चाहिए । व्याकरण की दृष्टि से आगम के मूल शब्दों को सुधार के नाम पर बदलना, उसमें एकरूपता लाना न तो किसी के अधिकार की परिधि में है और न ही उसका कोई औचित्य है । इससे आगम विरूप होते हैं और उनकी प्राचीनता नष्ट होती है । यदि पाठ भेद किया जाना आवश्यक प्रतीत हो तो उसे पादटिप्पण में दिया जाना चाहिए क्योंकि यही संपादन की अंतरराष्ट्रीय परम्परा है । यदि मूल आगम में किसी प्रकार से बदलाव की प्रथा प्रारम्भ हो गयी तो कालान्तर में उनका लोप हो जायेगा ।

आचार्य श्री विद्यानन्द जी का अभिमत

आगम बदलाव की भर्त्सना के सम्बन्ध में स्वयं मुनि श्री विद्यानन्द जी के 1964 में व्यक्त उदगार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

'' मनुष्य अल्पज्ञता तथा कषाय भाव के कारण अपने कलुषित एवं कल्पित निराधार भाव जब दूसरों के मस्तिष्क में उतारना चाहता है, जब मिथ्या अभिमान उसको विकृत साहित्य लिखने की प्रेरणा करता है तब उस दुराभिमान और दुराग्रह से लिखा गया ग्रन्थ या साहित्य उसकी चिरस्थायी अपकीर्ति का कारण तो बनता ही है, किन्तु उसके साथ जन-साधारण को भी कुछ समय के लिए भ्रम में डाल कर श्रद्धालु समाज में कलह और भ्रम का बीज बो देता है'' ।

(दि० जैन साहित्य में विकारप्राक दो शब्द, पृष्ठ 7 से उद्धृत)

आगम बदलाव से हानि

पण्डित बलभद्र जी के कथनानुसार आचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने उन्हें आदेश दिया था कि अभी तक अर्थ मूल प्राकृत गाथाओं का

नहीं दिया बल्कि प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया ही दी है और अर्थ संस्कृत छाया का किया है । इसलिए उन्होंने प्राकृत को महत्व देने पर जोर दिया । हमारी दृष्टि में आचार्य श्री का आशय प्राकृत के मूल शब्दों को व्याकरण के अनुसार एकरूपता प्रदान कर बदलना नहीं था । वेदों के समान ही मूल प्राचीन आगम प्राकृत ग्रन्थ व्याकरण के नियमों से बंधे नहीं हैं । प्राकृत ग्रन्थों में विभिन्न भाषाओं और बोलियों के शब्द प्रयोग में लाये गये हैं, जो अपने आप में इतिहास है । मूल शब्दों में तो परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता । इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि कुन्दकुन्द से पहले कोई प्राकृत का व्याकरण था ही नहीं । हैमचन्द आचार्य की व्याकरण के आधार पर मूल शब्दों में परिवर्तन करने से मूल आगम की प्राचीनता तो नष्ट होती ही है, साथ ही पण्डित बलभद्र जी के इस कृत्य से आचार्य कुन्दकुन्द बारहवीं शताब्दी के प्रमाणित होते हैं । इस तरह आगम के बदलाव करने से उस वर्ग विशेष की मान्यताओं को बल मिलता है जिससे दिगम्बर जैन आगम ईस्वी पूर्व न होकर बारहवीं शताब्दी का हो जाता है । वह वर्ग यही चाहता है । पण्डित बलभद्र जी ने अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए अपने पत्र 15-2-93 में श्वेताम्बर विद्वान् का हवाला दिया है । कहीं पण्डित बलभद्र जी श्वेताम्बरों के प्रभाववश तो कार्य नहीं कर रहे हैं ?

स्व-प्रशंसा

पण्डित बलभद्र जी ने स्व-प्रशंसा और सार्वजनिक अभिनन्दन की चर्चा करते हुए लिखा है कि कानजी स्वामी पक्ष के विद्वानों ने उनके समयसार की प्रशंसा की और उन्हें आश्वासन दिया कि भविष्य में जब भी वे समयसार प्रकाशित करेंगें पण्डित बलभद्र जी के समयसार की

नकल करेंगे । पण्डित बलभद्र जी का समयसार 1978 में प्रकाशित हुआ । जयपुर से प्रकाशित समयसार 1983 व 1986 के संस्करण वीर सेवा मन्दिर के ग्रन्थालय में मौजूद हैं जो उनके समयसार की नकल नहीं है । इसलिए पण्डित जी का यह प्रचार नितान्त भ्रामक है । कानजी स्वामी ने तो आचार्य कुन्दकुन्द का पूरा समयसार पाषाणों पर उत्कीर्ण कराकर सोनगढ के मन्दिर में लगाया है । उनके अनुयायी उसको गलत मान कर आपके ग्रन्थ की नकल करेंगे यह कितना हास्यास्पद लगता है ।

श्री बाबूलाल जैन वक्ता

पण्डित बलभद्र जी ने लिखा है कि बाबूलाल जी ने ८ अप्रैल १९९३ को उन्हें फोन पर यह बताया कि वे प्राकृत नहीं जानते । इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि सन् १९८८ में श्री मुसद्दीलाल जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित समयसार पर उनकी प्रस्तावना देखी जा सकती है और वह समयसार पर धाराप्रवाह प्रवचन भी करते हैं । स्पष्ट है कि पण्डित बलभद्र जी के इस कथन में कोई सार नहीं है ।

अधिकार की सीमा

श्री बाबूलाल जैन (वक्ता) यदि प्राकृत नहीं भी जानते हों तो क्या इस तथ्य से पं० बलभद्र जी को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह आगम में मूल शब्दों को बदल दें । हम पुनः निवेदन कर दें कि वीर सेवा मन्दिर की दृष्टि में आगम के सभी प्राचीन रूप सर्वशुद्ध हैं, कोई भी अशुद्ध नहीं है । उन्हें शुद्ध करने का हमें कोई अधिकार नहीं है । हम अपने विचार को पाठ टिप्पण में व्यक्त कर सकते हैं । दुर्भाग्य है कि पण्डित बलभद्र जी की दृष्टि में, जैसा कि उन्होंने ''रयणसार'' की

प्रस्तावना में लिखा है **"मुद्रित कुन्दकुन्द के साहित्य की वर्तमान भाषा अत्यन्त भ्रष्ट एवं अशुद्ध है "**। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को अत्यन्त भ्रष्ट एवं अशुद्ध कहने का दु:साहस केवल दिग्भ्रमित व्यक्ति ही कर सकता है ।

डॉ० नेमिचन्द जैन इन्दौर

पं० बलभद्र जी ने डॉ० नेमिचन्द जैन इन्दौर पर भी आरोप लगाया है कि उन्होंने कोई उत्तर उन्हें नहीं दिया है । डॉ० नेमिचन्द जैन का 29-5-93 का पत्र हमारे पास है जिसमें उन्होंने पं० पद्‌मचन्द्र शास्त्री के प्रति लिखा है कि "आदरणीय पण्डित जी तक मेरा प्रणाम पहुंचाइए, उन्हें माध्यम बनाकर मुझ पर भी आक्रमण हुआ है । पण्डित जी के लिए मन में आदर भाव है । वे मात्र लौह पुरुष नहीं हैं, स्टेनलैस फौलाद के आदमी हैं, निष्कलंक, स्वाभिमानी" । 7-6-93 के पत्र में उन्होंने लिखा है कि लोग मेरे और उनके बीच दीवार खड़ी करने पर आमादा हैं, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो पायेगा । मेरी शास्त्री जी के प्रति श्रद्धा अविकल रहेगी । उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होगा । मैं पं० पद्‌मचन्द जी की विशेषता, उनकी विद्वता और स्वाभिमान का कायल हूँ" ।

बाबू नेमिचन्द जैन, नयी दिल्ली - वार्ता प्रसंग

बाबू नेमिचन्द जैन के हवाले से पं० बलभद्र जी ने श्री पद्‌मचन्द जी शास्त्री पर आरोप लगाया है कि शास्त्री जी ने बाबू नेमिचन्द जी से कहा था "पं० बलभद्र जी से मेरा समझौता करा दीजिए" । वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है । शास्त्री जी ने कभी भी उनसे ऐसा नहीं कहा । बाबू नेमिचन्द जी ने स्वयं बलभद्र जी के उक्त आरोप का खण्डन कई लोगों के सामने किया है ।

डॉ० नन्दलाल जैन व डॉ० प्रेम सुमन

डॉ० नन्दलाल और डॉ० प्रेम सुमन पर आरोपों के प्रसंग में डॉ० प्रेम सुमन के पत्र दिनांक 3 अप्रैल 1988 को यहां उद्धृत कर रहे हैं जिससे आपको उनके विचारों का पता लग जाये ।

डा० प्रेम सुमन का पत्र

आदरणीय पं० जी, 29, सुन्दर वास उदयपुर 3-4-88

सादर प्रणाम

आपके पत्र मिले एवं आपका लेख भी । **"आगम के मूलरूपों में फेर-बदल घातक है" नामक आपका लेख सार्थक एवं आगम की सुरक्षा के लिए कवच है ।**

जिन्होंने प्राचीन आगमों व अन्य सहित्य का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि **कोई भी प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ/आगम, किसी व्याकरण के नियमों से बंधी भाषा मात्र को अनुगमन नहीं करता । उसमें तत्कालीन विभिन्न भाषाओं, बोलियों के प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं ।** अतः ग्रन्थ की प्रमुख भाषा कोई एक प्राकृत हो सकती है, किन्तु अन्य प्राकृतों के प्रयोग उस ग्रन्थ के दूषण नहीं होते ।

यह ठीक है कि ध्वनि परिवर्तन या भाषा विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार प्राकृत के प्रयोगों में क्रमशः परिवर्तन की प्रवृति बढ़ी है । किन्तु कौन सी प्रवृति कब प्रारम्भ हुई उसकी कोई निश्चित कालरेखा खींचना विशेष अध्ययन से ही सम्मभव है । **एक ही ग्रन्थ में कई प्रयोग प्राकृत बहुलता को दर्शाते हैं । अतः उनको बदलकर एक रूप कर देना सर्वथा ठीक नहीं है ।**

जैनशौरनसेनी भाषा का प्रयोगों की दृष्टि से अध्ययन होना अभी

बाकी है । **संस्कृत छाया से प्राकृत पढ़ने वाले विद्वानों के द्वारा इस प्राकृत भाषा के साथ छेड़छाड करना अनधिकार चेष्टा कही जायेगी । उसे रोका जाना चाहिए ।**

आचारांग की भाषा के निर्धारण के लिए विद्वान प्रयत्नशील हैं । वे प्राचीन शिलालेखों, पालिग्रन्थों, ध्वनि परिवर्तनों के क्रमिक विकास, व्याख्या साहित्य में सुरक्षित रूपों, संघ की परम्परा और विषय के अर्थ की सुरक्षा आदि को ध्यान में रखकर कुछ निष्कर्ष निकालने के लिए प्रयत्नशील हैं । इस कार्य में वर्षों का श्रम अपेक्षित है । इतना ही श्रम जब बुद्धिपूर्वक कोई श्रमण-परम्परा का जानकार विद्वान् जैनशौरसेनी आगमों की भाषा के क्षेत्र में करे तभी किसी शब्द के बदलने का सुझाव वह दे सकता है, शब्द (मूल) को वह फिर भी नहीं बदल सकता । क्योंकि **प्राचीन ग्रन्थों का एक-एक शब्द अपने समय का इतिहास स्तम्भ होता है ।**

शब्द के साथ-साथ आगमों के अर्थ की सुरक्षा भी आवश्यक है । श्रमण-परम्परा में अर्थ की प्रधानता रही है, इसीलिए एक अर्थ को व्यक्त करने के लिए कई शब्द/शब्दरूप प्रयोग में आये । **उन सब शब्दरूपों, विकल्पों का संरक्षण करना भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखना है । श्रमण-परम्परा को जीवित रखना है ।** शब्द परिवर्तन या संशोधन का सबसे बड़ा आधार ग्रन्थ विशेष की उपलब्ध प्राचीन पाण्डुलिपियों का अध्ययन हो सकता है । पाण्डुलिपियों का अध्ययन सम्पादन की एक विशेष कला है केवल पाठान्तर दे देना या शब्दों को एकत्र कर देना सम्पादन नहीं है । इस कार्य की गम्भीरता के कारण ही पहले और अब भी विद्वानां के ग्रुप द्वारा सम्पादन करने की पद्धति है । अकेले तो **केवल अपने विचार व्यक्त किये जा सकते हैं या टिप्पणी दी जा सकती है, मूलपाठ में शब्द नहीं बदला जा सकता है ।** किन्तु

दुर्भाग्य यह है कि अभी भी कई आगम ग्रन्थों के मूलपाठ निर्धारित नहीं हो पाये हैं । यह कार्य प्राथमिकता देकर सम्पन्न होना चाहिए ।

अभी कुछ कार्यो की व्यस्तता है । अन्यथा इस विषय पर विस्तार से चर्चा करने का मन है । कभी एक संगोष्ठी **आप जैसे मनीषी व खोजी विद्वानों की इसी विषय पर करने का विचार है ।** सब मिलकर किसी एक शौरसैनी आगम ग्रन्थ का सम्पादन कर उसे आदर्शरूप में उपस्थित करें तो आगे का रास्ता प्रशस्त हो सकता है ।

''जैनशौरसेनी प्राकृत व्याकरण'' पुस्तक हमारे सहयोगी डॉ॰ उदयचन्द जैन ने तैयार की है । प्रयत्न है, इसे शीघ्र विद्वानों के समक्ष लाया जाय । तब शायद आगम में फेर-बदल का नियोजन हो सके ।

और सब ठीक है ।

आपका
प्रेम सुमन

नग्न दिगम्बर रूप की महत्ता

इतिहास की एक घटना है कि श्रावस्ती के राजा सुहेलदल को हराने के लिए लखनऊ के नवाब राजा ने अपनी सेना के आगे गऊओं को रखा । राजा गोभक्त था । लड़ाई के मैदान में उसने हथियार डाल दिये और परिणाम यह हुआ कि राजा लड़ाई में हार गया । इसी प्रकार पं॰ बलभद्र जी हमारे परमपूज्य नग्न दिगम्बर स्वरूप को आगे रख कर वही नीति अपना रहे हैं । उन्होंने आचार्य विद्यानन्द जी को अनुचित परामर्श देकर भरी सभा में वीर सेवा मन्दिर और पं॰ पद्मचन्द शास्त्री के विरुद्ध अपमान जनक प्रवचन करा दिया । हम उत्तर देने में सक्षम थे, किन्तु हमारे सामने वह दिगम्बर रूप आ गया जिसके सामने हम सदा

नत मस्तक होते हैं और सदा होते रहेंगे । आचार्य विद्यानन्द जी के प्रवचन से प्रभावित होकर श्री अजितप्रसाद जैन ने ''शोधादर्श'' जुलाई 93 में ''अथ समयसार शुद्धिकरण'' शीर्षक से जो लेख छापा है उसे पाठकों की जानकारी हेतु अविकल दे रहे हैं -

अथ समयसार शुद्धि प्रकरण

कुन्दकुन्द भारती के प्रकाशन में समयसार के मूल पाठ में संशोधन पर आचार्य श्री विद्यानन्द महाराज से प्रो॰ खुशाल चन्द्र गोरावाला की चर्चा:

पं॰ बलभद्र जी और पं॰ पद्मचन्द्र जी के बीच हुए पत्राचार को देख-समझकर प्रो॰ गोरावाला ने १ मई, १९९३, को दिल्ली में मुनि श्री से भेंट की थी ।

प्रो॰ गोरावाला : Pischel आदि प्राकृतविदों के अनुसार जैन-शौरसेनी वैदिक-संस्कृत के समान प्राचीन तथा पृथक है, साहित्यिक-शौरसेनी से, साहित्यिक-संस्कृत के समान । अतएव जैसे वैदिक-संस्कृत में, साहित्यिक-संस्कृत के आधार पर आज तक एक भी रूप नहीं बदला गया है, वही हमें करना है जैन-शौरसेनी के विषय में ।

मुनि श्री ने अपनी भाषा-समिति में आधे घंटे तक अपनी साधना, आगमज्ञान और शौरसेनी के विशेषाध्ययन पर उपदेश दिया ।

प्रो॰ गोरावाला : मैं 'संजदपद-विवाद' के समय से ही मूल की अक्षुण्णता का लघुतम पक्षधर हूँ, अत: जैन-शौरसेनी या कुन्दकुन्द-वाणी की अक्षुण्णता के लिए 'अनेकान्त' का प्रेरक हूं । भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ-निर्मित दोनों पंडितों में ममत्व भी है, तथा ये दोनों आपके भी कृपाभाजन रहे हैं । ये व्याप्य हैं और आप व्यापक हैं । ऐसे प्रसंगों में व्यापक (आप तथा श्रमणमुनि) की अधिक हानि हुई है ।

मुनि श्री का पुनः वाग्गुप्ति मय उपदेश चला ।

प्रो० गोरावाला : आपको जो एक अन्य ताड़पत्र की प्रति मिली है, उसे 'अनेकान्त', वीर सेवा मन्दिर, को दिला दीजिए ।

मुनि श्री : मैं ५० हजार लोग भेजकर वीर सेवा मन्दिर का घिराव करा सकता हूं । या ५० पंडितों के अभिमत (पंफलेट) रूप में छपवाकर बांट सकता हूं और उस से वीर सेवा मन्दिर की भी वही हानि होगी जो आयकर में शिकायत करके इन्होंने 'कुन्दकुन्द भारती' की की है । अभी तक हमारा एक करोड़ का फण्ड हो गया होता अगर अनेकान्त ने इसके खिलाफ न लिखा होता ।

प्रो० गोरावाला : यह सब हमारे गुरुओं के अनुरूप नहीं होगा । अत: आप लिखें कि अमुक ताड़पत्री प्रति को आधार मानकर पं० बलभद्र जी का संस्करण प्रकाशित किया गया है तथा पूर्व-प्रकाशनों को त्रुटिपूर्ण, भूलयुक्त या अशुद्ध कदापि न लिखें क्योंकि यह लिखना जिनवाणी के लिए आत्मघातक होगा । जब एक ही ग्रंथ में पोग्गल पुग्गल, आदि रूप 'बहुलं, प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति' रूप से पाये जाते हैं तो वे तदवस्थ ही रहें । एकरूपता के लिए एक भी पद बदला, घटाया-बढ़ाया न जावे, जो अधिक उपयुक्त लगे उसे 'अत्र संजद: प्रतिभाति' करना पादटिप्पणी में, विश्वमान्य संपादन-प्रकाशन-संहिता है । व्याकरण के आधार पर संशोधन और वह भी दूसरे (साहित्यिक-संस्कृत या शौरसेनी) के आधार पर न हुआ है और न होगा । महाराज! आपको कोई प्राकृत-व्याकरण प्राकृत में मिला ?

मुनि श्री ने प्रकारान्तर हेतु जयसेनी टीकागत सूत्रों को कहा ।

प्रो० गोरावाला : सब प्राकृत-व्याकरण संस्कृत में हैं । ये ब्राह्मणयुग की देन है जिसने लघु भाषाओं को अप-भ्रंश बनाया है । तीर्थ-राज वीरप्रभु से आगम रूप में आया तथा गणहरंगथिपय, श्रुत-

स्मृत रूप से जब शास्त्ररूप में आया तो १८ भाषाओं के आचार्यों की दृष्टि श्रोता-हित पर थी, 'वत्थुसहाव' को 'विद्वज्जनसंवेद्य' रख कर प्राकृत जन को वंचित करने की नहीं थी । 'स्याद्वाद' भाषा-चौकापंथी (conservatism) का भी निराकरक है । वह भाषा-स्याद्वाद है । कहके नमोऽस्तु की ।

आचार्य श्री विद्यानन्द जी की चेतावनी – एक प्रतिक्रिया

प्रो० गोरावाला से दिनांक १ मई को हुई उपरोक्त भेंटवार्ता के पहले महावीर जयन्ती की आम सभा में परेड ग्राउन्ड, लाल किला, दिल्ली में दिनांक ३ अप्रैल, १९९३, को मुनि श्री चेतावनी दे चुके थे –

"अन्त में मैं आपको एक महत्वपूर्ण बात बता दूँ कि हमारे पं० बलभद्र जी ने एक समयसार सम्पादन १९७८ में कर दिया था जिसका सम्पादन ताडपत्री ग्रंथ के और चार हस्तलिखित और चार जो छपे हुए ग्रंथ हैं उनके अनुसार किया गया ।

१९७८ में लगातार एक साल तक वीर सेवा मन्दिर के कई सदस्यों ने पं० पद्मचन्द जी से ये लिखवा दिया कि ये ग्रन्थ भ्रष्ट कर दिया, ये ग्रन्थ बदल दिया और इसकी भाषा बदल दी । आगम को ध्वंस कर दिया, ऐसे सब बहुत बड़े आपत्तिजनक बातें कही, इतना ही नहीं उन्होंने कार्यकारिणी समिति बुलाकर एक पोस्टर भी निकाल कर इस ग्रंथ का बहिष्कार कर दिया । उनसे अनेक बार पंडित जी ने चिट्ठियां लिखी और अभी भी तैयार हैं । समाज में पडितों को लड़ना नहीं चाहिए । पंडित तो पहले जैसे नहीं हैं और लड़वाने वाले सबसे बड़े जो चतुर लोग हैं उनसे आप लोगों को बच कर रहना चाहिए । **और साफ हम कहते हैं कि आपको कोई हिम्मत हो तो यहाँ आप बाल आश्रम में आओ** या यहाँ आओ या जहां आप चाहते हैं । पंडित जी एक-एक प्रामाण देंगे, हम भी बैठने को तैयार हैं । उनके पास ग्रन्थ भी भेजा

इसमें क्या गलती है भेजो, आज तक नहीं भेज सके । तीन महीनों से उनको चिट्ठियाँ लिखी, कोई एक शब्द उत्तर देने को तैयार नहीं है और इतने कषायवश होकर उन्होंने अपशब्द तक उसमें लिखा है, जिसको बोल भी नहीं सकते । **तो आप (वीर सेवा मन्दिर के) सदस्यों से मेरा कहना है कि या तो आप सिद्ध कर दीजिए, या इस्तीफा दे दीजिए और दोनों नहीं कर सकते तो मैं १०-२० हजार आदमियों को बुलाकर प्रस्ताव पास करुँगा । तब आपकी कोई स्थिति इधर उधर की नहीं रहेगी । ये मेरी आज चेतावनी है और आपको स्पष्ट कहना है** । उन्होंने ६-६ लेख **अनेकान्त** में दिये जो बहुत ही घटिया बात है ।

१९७४ में भी शान्तिलाल कागजी इत्यादि ने मेरे खिलाफ बहुत परिश्रम किया और उन्होंने बहुत नाना प्रकार के बाल आश्रम में मुझे तकलीफ भी दी । मैंने क्षमा कर दिया था । इतना तक लिखा कि अनेकान्त में कि कुन्दकुन्द भारती को जो दान दिये गये हैं वो अन्याय उपार्जित धन है और वीर सेवा मन्दिर को जो दान दिये गये हैं न्याय उपार्जित । **ये शान्तिलाल कागजी और पं० पद्मचन्द के धन्धे हैं** । इनसे सतर्क रहो । और यदि ये लोग १०-१५ दिन के अन्दर इस समस्या का हल नहीं करते हैं तो मैं समाज के चारों तरफ से लोगों को भी बुलाऊँगा और उनके खिलाफ प्रस्ताव पास होगा । **और जो पं० बलभद्र जी कानूनी कार्यवाही करेंगे उसकी भी जिम्मेदारी आपकी होगी** । आज मैं स्पष्ट कर रहा हूं, आज तक चुप बैठे हैं अब चुप नहीं बैठ सकते ।''

(प्रो० खुशालचंद गोरावाला जैन साहित्य के पिछली पीढ़ी के शेष रहे मूर्धन्य विद्वानों में से हैं । भगवद्कुन्दकुन्दाचार्य की अमर कृति समयसार के मूल पाठ में पूज्य आचार्य राष्ट्रसंत विद्यानन्द मुनि के मार्ग-दर्शन में कुन्दकुन्द भारती में प्राकृत व्याकरण के आधार पर किए गए संशोधनों के विषय पर आचार्य श्री के साथ उनकी चर्चा हुई थी । उपर्युल्लिखित भेंट-वार्ता इस संबंध में उनकी मनोव्यथा को उजागर

करती है । **समयसार ग्रंथ में शौरसेनी प्राकृत भाषा के प्राचीनतम रूप के दर्शन होते हैं तथा प्राकृत भाषा के व्याकरण उसके बहुत बाद में रचे गए थे** । अतः समयसार की भाषा पूर्णरूपेण व्याकरण के नियमों के अनुरूप न हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । हम प्रोफेसर साहब के अभिमत से सहमत हैं कि उपलब्ध प्राचीन पांडुलिपियों के आधार पर स्थिर किए गए मूल पाठ में व्याकरण, अर्थ आदि की दृष्टि से यदि कोई संशाधन उपयुक्त समझा जाय तो मूल पाठ के साथ छेड़-छाड़ न करके उसे पाद-टिप्पणी (Footnote) के रूप में देना ही उचित है ।)

इस संबंध में श्री महावीर जयन्ती के सुअवसर पर दि० ३-४-९३ को आयोजित विशाल जन सभा में आचार्य श्री द्वारा व्यक्त किए गए टेपित उद्‌गारों में उनकी कोपावेश से प्रेरित धमकी को पढ़ कर बड़ा अटपटा लगा । **निश्चय ही, भाषा समिति का निरन्तर पालन करने वाले कषाय-जयी महामुनियों की गरिमा में इससे कोई श्री-वृद्धि हुई हो, हमें ऐसा नहीं लगा** । पूज्य आचार्य श्री के सारी सभा को विस्मित करने वाले कोपावेश का हम स्वयं भी प्रत्यक्ष दर्शन कर चुके हैं जब उन्होंने श्री श्रवणबेलगोला में भगवान बाहुबली के सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक के अवसर पर एक विशाल जन सभा में श्री भरत कुमार काला (बम्बई) को भारी कोपावेष में डांट कर मंच से उतरवा दिया था क्योंकि वे श्री काला के द्वारा एक विधवा अजैन महिला राजनेता से प्रथम अभिषेक कराए जाने की पूर्व आलोचना किए जाने से रुष्ट हो गए थे ।

-अजित प्रसाद जैन

प्रबन्ध सम्पादक

('शोधदर्श' 20 से साभार)

आचार्य श्री के उक्त प्रवचन के सम्बन्ध में तत्काल ही एक पत्र कुन्दकुन्द भारती के अध्यक्ष साहू अशोक कुमार जैन की सेवा में वीर सेवा मंदिर की ओर से भेजा गया जो इस प्रकार है :

15 अप्रैल, 93

आदरणीय साहूजी,

सादर जय जिनेन्द्रदेव की ।

गत माह समयसार विवाद के सम्बन्ध में 15-20 दिनों बाद बाहर से वापस आने पर आपने बात करने को कहा था । इस बीच 3 अप्रैल को महाराजश्री का प्रवचन इस सम्बन्ध में हुआ । जो जानकारी मुझे जैन-अजैन मित्रों से जितनी मिली, आपके अवलोकनार्थ संलग्न है ।

प्रवचन में लगाये गये सभी आरोप निराधार तो हैं ही, पं॰ पद्मचन्द शास्त्री के विरुद्ध की गयी टिप्पणी विशेष रूप से विचारणीय है ।

1 **क्या किसी विद्वान् को खामोश करने का यही तरीका है ?**

2 **क्या शास्त्री जी का निरादर उचित है ?**

3 **क्या शास्त्री जी किसी के कहने पर लेख लिख सकते हैं ?**

जैन समाज के नेता, कुन्दकुन्द भारती के अध्यक्ष, वीर सेवा मन्दिर के संरक्षक तथा अग्रज के नाते आपके मार्गदर्शन की अपेक्षा है ।

सादर,

संलग्न : 1 — आपका

प्रतिष्ठा में, साहू श्री अशोककुमार जैन — महासचिव

अध्यक्ष कुन्दकुन्द भारती

इसके पश्चात् 10 मई 1993 को वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी की बैठक में महाराज श्री के उक्त प्रवचन पर विचार विमर्श हुआ और

12 मई 1993 को कुन्दकुन्द भारती के मंत्री महोदय को जो पत्र भेजा गया वह यहाँ दिया जा रहा है :

12 मई, 1993

मंत्री महोदय,
श्री कुन्दकुन्द भारती,
18-बी स्पेश्यल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नयी दिल्ली-110067

आदरणीय बंधु,

सादर जयजिनेन्द्र ।

दिनांक 10 मई 1993 को वीर सेवा मन्दिर कार्यकारिणी की बैठक श्री प्रकाशचन्द जी जैन, पूर्व निगम पार्षद की अध्यक्षता में हुई । संस्था के सदस्य श्री दिग्दर्शनचरण जैन ने भगवान महावीर जयन्ती के अवसर पर 3-4-93 को आचार्य श्री विद्यानन्द जी के प्रवचन का टेप "जिसमें वीर सेवा मन्दिर एवं जैनागम" सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं, प्रस्तुत किया और कहा कि इस टेप में वीर सेवा मन्दिर पर जो आरोप लगाये गये हैं वह अत्यन्त आपत्तिजनक है । टेप बैठक में बजाकर सुनाया गया ।

सर्वसम्मति से विचार किया गया कि टेप में व्यक्त आचार्यश्री के विचार तथ्यों पर आधारित नहीं हैं । सभी सदस्यों ने एकमत से टेप में व्यक्त भाषा के प्रति असहमति प्रकट की और निर्णय लिया कि टेप की प्रति आचार्य श्री के मनन हेतु भेज दी जाय । कार्यकारिणी के इस निर्णय के अनुसार टेप की प्रति आपके पास भिजवा रहा हूँ ।

सधन्यवाद,

भवदीय,
महासचिव

पं० बलभद्र जी ने साहू अशोक कुमार जैन के हवाले से एक पत्र वीर सेवा मन्दिर को लिखा था। वीर सेवा मन्दिर ने 11-3-93 को पत्र लिखकर साहू अशोक कुमार जैन से मार्गदर्शन चाहा था। पत्र इस प्रकार है :

11-3-93

आदरणीय साहू जी,

सादर जय जिनेन्द्र।

कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित समयसार ग्रन्थ के प्रसंग में वीर सेवा मन्दिर द्वारा उठाई गयी आपत्तियों से आप परिचित होंगे। इसी विषय में कुन्दकुन्द भारती से पं. बलभद्र जी का पत्र दिनांक 11-3-93 जो "अनेकान्त" के प्रकाशक श्री बाबूलाल जैन के नाम है, की प्रति संलग्न है। इसी सम्बन्ध में विचार करने हेतु आज कार्यकारिणी की बैठक भी बुलाई गयी है जिसकी सूचना आपकी सेवा में भी यथासमय प्रेषित कर दी गयी थी।

वीर सेवा मन्दिर का मन्तव्य यह है कि भगवान कुन्दकुन्द की निजी हस्तलिखित कोई प्रति समयसार की उपलब्ध नहीं है। विभिन्न प्रकाशनों की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन सभी में पाठ भेद है। कहीं भी व्याकरण के आधार पर एकरूपता की बात नहीं कही गयी है। मूल आगम की प्राचीनता अक्षुण्ण रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि व्याकरण के नाम पर एकरूपता करने के बहाने बदलाव नहीं किया जाय। यदि कहीं कोई पाठ भेद किया जाना आवश्यक लगता हो तो टिप्पणी में जाना चाहिए। यदि इस प्रकार बदलाव चालू हो गया तो मूल आगम का विलोप ही हो जायेगा।

पं. बलभद्र जी ने अपने उपरोक्त पत्र में लिखा है कि आप और साहू रमेशचन्द्र जी ने प्राकृत भाषा के कई प्रकाण्ड विद्वानों द्वारा यह

जानकारी ली थी तो उन विद्वानों ने पाठ भेद का मामला बताया। बारामती में जब आपने जानना चाहा कि क्या कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित समयसार उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में से किसी भी एक ग्रन्थ के अनुरूप है तब आपको भावनगर से 52 वर्ष पूर्व यह प्रकाशित "समयसार" ग्रन्थ दिखाया गया था। पण्डित जी के अनुसार उस प्रति में सभी पाठ कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशित ग्रन्थ के अनुरूप पाये गये थे।

कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित "समयसार" ग्रन्थ के अग्रलेख "मुन्नुडि" शीर्षक में दिये गये तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ किसी भी प्राचीन समयसार ग्रन्थ के अनुरूप नहीं है, फिर भी जैसा कि पण्डित बलभद्र जी ने उपरोक्त पत्र में लिखा है कि कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशित समयसार भावनगर से प्रकाशित ग्रन्थ के अनुरूप है और आपने इसकी पुष्टि कर ली है तो कृपया हमारा मार्गदर्शन करने की कृपा करें ताकि वीर सेवा मन्दिर वस्तुस्थिति से अवगत हो जाय।

साभिवादन

सलग्न : एक — आपका,

प्रतिष्ठा में, — महासचिव

माननीय साहू अशोक कुमार जैन,

नयी दिल्ली

समयसार के विषय में ही आदरणीय साहू रमेशचन्द्र जैन का 16-3-93 का पत्र हमें मिला था जिसका उत्तर वीर सेवा मन्दिर की ओर से 17-3-93 को उन्हें भेजा गया। पत्र इस प्रकार है :

17 मार्च, 1993

आदरणीय साहू जी,

सादर जय जिनेन्द्र

संदर्भ : समयसार ग्रन्थ

आपका 16 मार्च का पत्र संस्था के विद्वान पं. पद्मचन्द जी शास्त्री के नाम मिला । इस विषय में विचार-विमर्श करने से पहले मेरा निवेदन है कि कुन्दकुन्द भारती से पं. बलभद्र जी ने दिनांक 10-3-93 के पत्र में लिखा है कि **शास्त्री जी में न तो उपदेश देने की पात्रता है और ना ही आदेश देने की क्षमता है, साथ ही उन्होंने शास्त्री जी की भाषा को 'आतंकवादी बताया है । पत्र के अंत में उन्होंने परिणाम भुगतने की धमकी भी दी है ।** उनके पत्र की प्रतिलिपि संलग्न है । क्या इन परिस्थितियों में शास्त्री जी के परामर्श का कोई अर्थ होगा ?

इस सम्बन्ध में कुन्दकुन्द भारती से लगातार अनेक पत्र हमें मिले । सम्भवतः आपको उन सभी की जानकारी भी होगी । कुन्दकुन्द भारती को और आदरणीय साहू अशोक कुमार जी को संस्था से भेजे गये पत्रों की संलग्न प्रतिलिपियां विषय को अधिक स्पष्ट करती है ।

साभिवादन,

संलग्न : तीन पत्रों की छायाप्रति

आपका,
महासचिव

प्रतिष्ठा में,
साहू रमेशजी जैन
ट्रस्टी कुन्दकुन्द भारती, टाइम्स हाउस,
7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली

डॉ. गोकुलचन्द जैन, वाराणसी ने आगम बदलाव के सम्बन्ध में अपने विचार 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में दिगम्बर जैन प्राकृत लिटरेचर एण्ड शौरसेनी शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार दिये हैं।

Digambera Jaina Prakrit Literature and Sauraseni

To conclude, I may simply observe that these questions stand as **Yaksa Prasnas** before scholars of Prakrits, and if not attended timely, dangerous consequences are obvious. If the Sauraseni grammar is prescribed for the study of Digambera Jaina Prakrit Literature, and ancient Prakrit texts are corrected accordingly, the entire Prakrit works of the tradition will automatically be proved after one thousand years of Vardhamana Mahavira. Then there remains no question of historical and objective study. Most of the present scholars are repeating the views expressed by one or the other earlier scholar. Even the studies already conducted are not consulted. The younger generation has advanced few steps further. A common practice is developing to snatch the matter from here and there and to make authoritative statements as their own research.

(जैन सिद्धान्त भास्कर से साभार)

डॉ. ए. एन. उपाध्ये एवं डाक्टर हीरालाल जैन के विचार पठनीय हैं।

'In his observation on the Digamber text Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works. He remarks that the language of these works is influenced by Ardhmagdhi, Jain Maharastri which Approaches it and Saurseni.' Dr. A. N. Upadhye

(Introduction of Pravachansara)

The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this is exactly the nature of the language called 'Jain Saurseni'

-- Dr Hiralal

(Introduction of षट् खंडागम P IV)

षट्खण्डागम के सम्पादक और अपनी पीढ़ी के मान्य विद्वान् पंडित फूलचन्द शास्त्री के विचार यहां दिए जा रहे हैं ।

'जो ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों में जैसा प्राप्त हो, उसको आधार मानकर उसे वैसा मुद्रित कर देना चाहिए । हमको यह अधिकार नहीं है कि हम उसमें हेर फेर करें । आप अपने विचार लिख सकते हैं या पाद टिप्पण में अपना सुझाव दे सकते हैं । **मूल ग्रन्थ बदलवाने का आपको अधिकार नहीं है ।** उससे आम्नाय की मर्यादा बनाने में सहायता मिलती है और मूल आगमों की सुरक्षा बनी रहती है ।

वेदों के समान मूल आगम प्राचीन है । वे व्याकरण के नियमों से बंधे नहीं हैं । व्याकरण के नियम बाद में उन ग्रन्थों के आधार पर बनाये जाते हैं ।

-पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री

बनारस वाले हस्तिनापुर

पं० बलभद्र जी का मुख्य आरोप यह रहा है कि हमने उनके किसी पत्र का उत्तर नहीं दिया है । हम वीर सेवा मन्दिर से दिये गये उत्तरों को पाठकों की जानकारी के लिए यहां उद्धृत कर रहे हैं :

१८ फरवरी, ९३

माननीय पंडित बलभद्र जी जैन
संपादक
"समयसार"
कुन्दकुन्द भारती, नयी दिल्ली

आदरणीय,

आपके पत्र दि. १८-२-९३ के उत्तर में निवेदन है कि १९४४ में सोलापुर से प्रकाशित "मूलाचार" ग्रन्थ में सम्बन्धित गाथा के पृष्ठ की छाया प्रति संलग्न है जिसमें हवदि का नहीं "होई" शब्द का प्रयोग है। भारतीय ज्ञानपीठ व अन्य पूजा की पुस्तकों एवं अ.भा.दि. जैन परिषद की पाठावली में भी "हवदि" शब्द का प्रयोग नहीं है।

पण्डित पद्मचन्द्रजी शास्त्री से बात करने पर उन्होंने कहा "इस विषय में वह पहले ही लिख चुके हैं। उनका अभिमत है कि एक ही ग्रन्थ में एक शब्द को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में दिया गया है। उनकी दृष्टि में वे सभी ठीक हैं। जिस जगह जिस शब्द का जो रूप प्रयुक्त हुआ है आगे भी वही होना चाहिए। शब्द को बदल कर एकरूपता लाने के चक्कर में मूल रूप में बदलाव से प्राचीनता नष्ट होती है। **आवश्यक होने पर कुछ पाठ भेद स्पष्ट करना भी पड़े तो उसे टिप्पणी में दिया जाना चाहिए। मूल गाथा के स्वरूप को बदला नहीं जाना चाहिए, उसे अक्षुण्ण रहना ही चाहिए।** यह मत केवल मेरा ही नहीं, अनेक उच्चकोटि के मूर्धन्य विद्वानों का भी है।"

पण्डित जी की जिन आपत्तियों का सप्रमाण समाधान आपने तैयार

किया है, कृपया उसकी एक प्रति भेज दें तो विषय के सभी पक्षों पर विचार करने में सुगमता रहेगी और समुचित समाधान भी हो सकेगा ।

शेष आपका उत्तर आने पर,

भवदीय,
महासचिव

3 मार्च, 93

आदरणीय पंडित बलभद्र जी,

सादर जयजिनेन्द्र

आपसे दो सप्ताह पूर्व दूरभाष पर और आपके प्रतिनिधि श्री सुभाषचन्द्र जैन से 2-3 बार बातें हुई । आपने कहा था कि आपके द्वारा प्रकाशित "समयसार" ग्रन्थ मूडबिद्री के ताडपत्र पर लिखित प्रति पर आधारित है । मैंने आपसे भी निवेदन किया था और आपके प्रतिनिधि से भी कि उक्त मूडबिद्री के ग्रन्थ की छाया प्रति हमें उपलब्ध कराने की कृपा करें ताकि हम भी अपने शोधार्थियों के लिए उपयोग कर सकें ।

कल आपके प्रतिनिधि ने कहा कि मैं लिखित में आपसे निवेदन करूं, अत: मेरा निवेदन है कि **आप उक्त ग्रन्थ की छाया प्रति भिजवा दें । उसमें कुछ खर्चा भी हो तो हम सहर्ष आपको देंगे ।** इस प्रकार उस ग्रन्थ से हमारा मार्गदर्शन भी होगा और आपके इस पक्ष को भी बल मिलेगा कि आपने "समयसार" मूडबिद्री के ताडपत्री पर लिखित ग्रन्थ को आदर्श प्रति मानकर ही मुद्रित कराया है ।

शास्त्री जी का कहना है कि जिस ग्रन्थ में जो शब्द जिस रूप में आया हैं वहां उसका वही रूप रहना चाहिए। उनका विरोध तो यही है कि **व्याकरण की दृष्टि से किसी आगम के मूल शब्द को सुधार के नाम पर बदलना आगम को विरूप करना है।**

कृपया मूडबिद्री ग्रन्थ ही प्रति शीघ्र भिजवाने की कृपा करें।

भवदीय,
महासचिव

13 मार्च, 1993

मंत्री कुन्दकुन्द भारती
18-बी, स्पेश्यल इन्स्टीटयूशनल एरिया
नयी दिल्ली-110017

आदरणीय बंधु,

सादर जय जिनेन्द्र

कुन्दकुन्द भारती एवं पंडित बलभद्र जी से प्राप्त दिनांक 15-2-93, 18-2-93, 20-2-93, 21-2-93, 2-3-93, 6-3-93, 10-3-93, 11-3-93 एवं बिना दिनांक के पत्रों पर वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी ने दिनांक 11-3-93 को श्री शीलचन्द जी जैन जौहरी की अध्यक्षता में विस्तृत रूप से विचार किया। यह निष्कर्ष निकला कि वर्तमान में भगवान कुन्दकुन्द की, उनके निजी हस्तलिखित समयसार ग्रन्थ की कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है। विभिन्न प्रकाशकों की अथवा प्राचीन ताडपत्र पर लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। उनका अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि कोई भी प्रति अक्षरश: एक दूसरे से मेल नहीं खाती। किसी भी प्रति में ऐसा लेख नहीं मिलता कि उसका संशोधन किया गया है।

कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में संशोधन कर शब्दों में परिवर्तन से यह विवाद उत्पन्न हुआ । इस विषय पर वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी ने १९८८ में विचार किया और निर्णय लिया कि ऐसे प्राचीन आगम ग्रन्थों में शब्द परिवर्तन कर संशोधन की परिपाटी को रोका जाय अन्यथा मूल आगम का लोप ही हो जायेगा । इसी दृष्टि से इस सम्बन्ध में विद्वानों से प्राप्त विचारों को पत्रक के रूप में प्रसारित कर समाज को जागृत करने का प्रयत्न किया गया ।

हालांकि उक्त प्रसंग में वीर सेवा मंदिर से १९८८ में प्रकाशित "अनेकान्त" के तीन अंकों में प्रकाश डाला गया था जबकि १९९३ में कुन्दकुन्द भारती से उपरोक्त आरोप पत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें १९८८ के अंकों का हवाला दिया गया है । उन पत्रों में मुख्य रूप से यह कहा गया है कि मूडबिद्री में प्राप्त ताडपत्रों पर लिखित समयसार को आर्दश प्रति मानकर ही यह ग्रन्थ मुद्रित कराया गया है और यह आशय निकलता है कि कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित समयसार ग्रन्थ उक्त प्रति के अनुसार है, परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है क्योंकि उसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'मुन्नुड़ि' शीर्षक से जो लेख छपा है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि यह ग्रन्थ किसी भी अन्य उपलब्ध समयसार की सत्य प्रति नहीं है ।

आपके उपरोक्त एक पत्र में श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित समयसार ग्रन्थ के हवाले से कहा गया है कि उन्होंने भी समयसार में संशोधन किया है, किन्तु उसकी प्रस्तावना से विदित हुआ कि उन्होंने संशोधन नहीं किया है बल्कि छूटे शब्द व पंक्तियों की पूर्ति विद्वानों की देख रेख में की । उन्होंने व्याकरण के आधार पर कोई भी शब्द नहीं बदला है ।

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया है कि मूडबिद्री से प्राप्त समयसार की छाया प्रति उपलब्ध कराकर उसका मिलान कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित समयसार से कर लिया जाय। यदि यह उसी की सत्य प्रति है तो वीर सेवा मंदिर अपनी सभी आपत्तियों को सखेद वापस ले लेगा। यही मांग पण्डित बलभद्र जी ने अपने 10-3-93 के पत्र में रखी है।

कार्यकारिणी ने यह निर्णय भी लिया कि वीर सेवा मंदिर का अभिप्राय कुन्दकुन्द भारती अथवा संपादक महोदय को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का नहीं था, न है और ना ही भविष्य में ऐसा हो सकता है।

भवदीय

महासचिव

पूज्य त्यागीगण एवं विद्वानों की कुछ सम्मतियां भी दी जा रही है।

अ –**108 पूज्य आचार्य शिरोमणि श्री अजित सागर जी महाराज**

'मूल जैन प्राकृत ग्रन्थों को बदलना कथमपि उचित नहीं है।'

आ –**गणधराचार्य 108 श्री कुन्थुसागर महाराज**

–'जो भी पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथ हैं अथवा कुन्दकुन्द देवकृत जिनागम हैं उसमें बदल करने का किसी को भी अधिकार नहीं है क्योंकि हमारे आचार्यो ने कहीं भी गलत लिखा ही नहीं है। मूल ग्रन्थों को बदलना व उनकी मूल भाषा को बदलना महापाप है।'

इ –**श्री 108 नमिसागर जी महाराज**

–'आगम को अन्यथा करना सबसे खराब बात है इससे परम्परा बिगडेगी ही।'

ई –क्षुल्लकमणि 105 श्री शीतल सागर जी महाराज

– 'मूल शब्दों, वाक्यों में परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। कोष्टक या टिप्पणी में अपना सुझाव दिया जा सकता है।'

उ –105 आर्यिका विशुद्ध मती जी

–'मूल में सुधार भूल कर नहीं करना चाहिए अन्यथा सुधरते-सुधरते पूरा ही नष्ट हो जाएगा।'

ऊ– 105 आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी

–'यदि कदाचित् कोई पाठ बिल्कुल ही अशुद्ध प्रतीत होता है तो भी उसे जहाँ का तहाँ न सुधार कर कोष्ठक में शुद्ध प्रतीत होने वाला पाठ रख देना चाहिए। आजकल मूलग्रन्थों में संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन की परम्परा चल पड़ी है उसकी मुझे भी चिन्ता है।'

ए –पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री

–'ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का मुझे विशाल अनुभव है। नियम यह है कि जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जाता है उसकी जितनी सम्भव हो उतनी प्राचीन प्रतियां प्राप्त की जाती हैं। उनमें से अध्ययन करके एक प्रति को आदर्श प्रति बनाया जाता है। दूसरी प्रतियां में यदि कोई पाठ भेद मिलते हैं तो उन्हें पाद टिप्पण में दिया जाता है।'

ऐ –पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री

–'पूर्वाचार्यो के वचनों में, शब्दों में सुधार करने से परम्परा के बिगड़ने का अन्देशा है। कोई भी सुधार यदि व्याकरण से या विभिन्न प्रतियों के आधार पर करना उचित मानें तो उसे टिप्पण में सकारण उल्लेख ही करना चाहिए न कि मूल के स्थान पर।'

ओ –पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री

–'संशोधन करने का निर्णय प्रतियों के पाठ मिलान पर नियमित होना चाहिए न कि सम्पादक की स्वेच्छा पर।'

औ –**डा० ज्योतिप्रसाद जैन**

–'किसी भी प्राचीन ग्रन्थ के मूल पाठ को बदलना या हस्तक्षेप करना किसी के लिए उचित नहीं है । जहां संशय हो या पाठ त्रुटित हो उसी स्थिति में ग्रन्थ की विभिन्न प्रतिलिपियों में प्राप्त पाठान्तरों का पाद टिप्पणी में संकेत किया जा सकता है ।'

अं –**डा० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली**

–'हमें कुन्दकुन्द भारती (आगम) को बदलने से बचाना चाहिए अन्यथा लोग आगम ग्रन्थ तो दूर रहे वे अनादि मूल मंत्र णमोकार मंत्र को भी बदल कर रख देंगे ।'

अ: –**प्रो० गोरावाला खुशालचन्द्र, वाराणसी**

–'जिनवाणी भक्तों को मूल को बदले बिना टिप्पणी द्वारा ही अन्तर-प्राकृत रूपों का निर्देश करना चाहिए ताकि पुण्य श्लोक पूज्यवर श्री 108 आ० शान्ति सागर जी महाराज के समान समाधि ग्रहण के पहिले ''संजद'' पद की पुन: स्थिति का उपदेश न देना पड़े ।'

क –**डा० राजाराम जैन, आरा**

–'मूल आगमों की भाषा में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए । जिस भाषा परिवर्तन के आधार पर हमने अर्धमागधी जैनागमों (श्वेताम्बरागमों) का बहिष्कार कर दिया, उसी आधार पर हम अपने मूलागमों की भाषा में परिवर्तन कर उसे अपनाना चाहते हैं, यह कैसे संभव होगा ।'

ग –**डॉ० नेमीचन्द जैन, इन्दौर**

–'वस्तुत: जैन शौरसेनी अन्य प्राकृतों से जुदा है, इस तथ्य को पूरी तरह समझ लेना चाहिए । भाषा के शुद्ध करने की सनक में कहीं ऐसा न हो कि हम जैन-शौरसेनी के मूल व्यक्तित्व से ही हाथ धो बैठें ।'

घ –**डॉ० लालचन्द जैन, वैशाली**

–'प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों की मूलभाषा को शुद्ध करके उसे विकृत करना एक बहुत बड़ा दु:साहस है । जैन शौरसेनी आगमों की भाषा समस्त प्राकृतों से प्राचीन है, इसलिए उसके रूपों में विविधता का होना स्वाभाविक है । बारहवीं शताब्दी के वैयाकरणों के व्याकरण नियमों के अनुरूप बनाना सर्वथा अनुचित है । आचार्य हैमचन्द ने स्वयं प्राकृत व्याकरण में 'आर्षम्' सूत्र के द्वारा कहा भी है कि 'आर्ष' अर्थात् आगम संबंधी शब्दों की सिद्धि में प्राकृत–व्याकरण के नियम लागू नहीं होते हैं ।'

च –**पद्मश्री बाबूलाल पाटौदी, इन्दौर**

–'मूल में तो किसी भी प्रकार की मिलावट बर्दाश्त नहीं हो सकती'

छ –**श्री अजितकुमार जैन, ग्वालियर**

'कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित समयसार और नियमसार' आदि ग्रन्थ आ. विमल सागर जी महाराज एवं उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज ने यह कहकर लौटा दिए कि इन ग्रन्थों में आचार्यों की मूल गाथाओं के शब्दों को बदल दिया है जो आगम सम्मत नहीं है ।'

ज –**दि० जैन प्रवन्था समिति ट्रस्ट, बीकानेर**

–'मूल आगम की रक्षा का जो प्रयास आपने किया है वह सराहनीय है ।'

झ –**डा० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी**

–'कुन्दकुन्द आदि पूर्वाचार्यो की प्राकृत परिवर्तन पर विभिन्न विद्वानों का ध्यान गया है और भविष्य में उससे होने वाले खतरों का संकेत भी स्पष्ट हो रहा है । दिगम्बरों द्वारा अपनी ही प्राचीन संस्कृति की इस प्रकार अवहेलना हमारे दिमागी खोखलेपन का नमूना है ।'

ट –श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद की ओर से दि० 23/6/88

–'प्राचीन ग्रन्थों के संपादन की सर्वमान्य परिपाटी यह है कि उनके शब्दों में उलट फेर न करके अन्य प्रतियों में जो दूसरे रूप मिलते हों, परिशिष्ट में या टिप्पणी में उनका उल्लेख कर दिया जाए ।'

ठ –डा० विमलप्रकाश जैन, जबलपुर

–'संपादक को अपनी ओर से पाठ परिवर्तन करने का कदापि अधिकार नहीं है । जो भी कहना हो, वह अपना अभिमत या सुझाव पाद–टिप्पण में दे सकता है । और प्राकृत ग्रन्थों में तो विशेष रूप से किसी भी सिद्धान्त को मानकर पाठों को एक रूप बनाना तो सरासर प्राकृत की सुन्दरता, स्वाभाविकता को समाप्त कर देना है । जो संपादन के सर्व मान्य सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है ।'

ड –अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् खुरई अधिवेशन में दि० २७-६-९३ को पारित प्रस्ताव

'वर्तमान काल में मूल आगम ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन के नाम पर ग्रन्थकारों की मूल गाथाओं में परिवर्तन एवं संशोधन किया जा रहा है । जो आगम की प्रामाणिकता, मौलिकता एवं प्राचीनता को नष्ट करता है । विश्व-मान्य प्रकाशन संहिता में व्याकरण या अन्य किसी आधार पर मात्रा, अक्षर आदि के परिवर्तन को भी मूल का घात माना जाता है । इस प्रकार के प्रयासों से ग्रन्थकार द्वारा उपयोग की गई भाषा की प्रचीनता का लोप होकर भाषा के ऐतिहासिक चिन्ह लुप्त होते हैं । अतएव आगम/आर्ष ग्रन्थों की मौलिकता बनाए रखने के उद्देश्य से अ भा दि जैन वि प विद्वानों, सम्पादकों, प्रकाशकों एवं उनके ज्ञात अज्ञात सहयोगियों से साग्रह अनुरोध करती है कि वे आचार्यकृत मूल–ग्रन्थों में भाषा एवं अर्थ सुधार के नाम पर किसी भी प्रकार का फेर-बदल न करें । यदि कोई संशोधन/परिवर्तन आवश्यक समझा जाए तो

उसे पाद-टिप्पण के रूप में ही दर्शाया जाए ताकि आदर्श मौलिक कृति की गाथाएं यथावत ही बनी रहें और किसी महानुभाव को यह कहने का अवसर न मिले कि भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के २५०० वर्ष उपरान्त उत्पन्न जागरूकता के बाद भी मूल आगमों में संशोधन किया गया है।'

-सुदर्शन लाल जैन
मंत्री

उपसंहार

पं. बलभद्र जी ने संपादकीय में **मेरा निवेदन** शीर्षक से लिखा है कि उन्होंने आगम में एक भी शब्द न घटाया है न बढ़ाया है। आर्ष और आचार्य परम्परा से आये अर्थ के अनुसार ही अन्वय और अर्थ किया है। हमारा अन्वय और अर्थ से प्रयोजन नहीं। इसलिए उनका यह उल्लेख हमारे लिए अप्रासंगिक है। वीर सेवा मन्दिर का तो स्पष्ट मन्तव्य है कि **पं० बलभद्र जी ने आगम के मूल शब्दों को निकाल कर व्याकरण के अनुसार शब्दों में एकरूपता लाने का प्रयत्न किया है** जो हमें स्वीकार नहीं है। वे लिखते हैं कि उन्हें दस गाथाएं बतायें जो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हों। हमारा कहना है कि जैन शौरसैनी प्राकृत आम लोगों के बोलचाल की भाषा थी जिसका कोई व्याकरण नहीं होता। जिस भाषा पर व्याकरण लागू होता है उसे प्राकृत नहीं कहा जा सकता। प्राकृत भाषा में तो शब्दों के सभी रूपों का प्रयोग हुआ है। यदि वे व्याकरण के नियमों के अनुकूल होते तो सभी जगह शब्द एकरूप होते। खेद है कि पं० बलभद्र जी ने मूड़बिद्री की ताड़पत्रीय प्रति की आड़ में व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्दरूप परिवर्तन कर एकरूपता स्थापित कर दी है। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि इस शुद्धीकरण में हैमचन्द आचार्य के व्याकरण के अनुसार

परिवर्तन किये गये हैं । हैमचन्द आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य के बहुत बाद के हैं, **ऐसा करने से दिगम्बर जैन आचार्य कुन्दकुन्द श्री हैमचन्द आचार्य के बाद में हुए सिद्ध होते हैं** जो नितांत भ्रामक है ।

अत्यन्त पीड़ा के साथ हमें लिखना पड़ रहा है कि कुन्दकुन्द भारती (संस्था) में बैठकर पं० बलभद्र जी आगम रूप कुन्दकुन्द भारती को ही भ्रष्ट करने पर तुले हैं । जिन आगमों को पढ़ कर वह विद्वान बनें, जो सदैव उनकी आजीवका का सहारा बना, उन्हीं आगमों को भ्रष्ट कहना और उन्हें बदलना तो ऐसा ही है जैसा उसी पेड़ की जड़ें काटना जिस पर वह बैठा हुआ हो । उन्होंने वीर सेवा मन्दिर के मंत्री को अपने संपादकीय में खेद प्रकट करने की शालीनता दिखाने का परामर्श दिया । हमें आशा है कि पं. बलभद्र जी का भ्रम दूर हो गया होगा और **वे आगम भाषा को अत्यन्त भ्रष्ट कहकर आगम को विरूप करने की अभद्रता के लिए समाज से खेद प्रकट करने की शालीनता अवश्य दिखायेंगे ।**

– वीर सेवा मन्दिर

परम्परित मूल आगम रक्षा प्रसंग

बात मई सन् 1978 की है, जब प्रासंगिक (पश्चाद्वर्ती-व्याकरण-संशोधित) समयसार (कुंदकुंद भारती) का प्रकाशन हुआ और ला॰ हरीचंद जैन द्वारा मथुरा वाले पं॰ राजेन्द्रकुमार जी ने हमें भिजवाया। जैसा कि प्राय: होता है ग्रन्थ को पर्याप्त समय बाद देखने का अवसर मिला। जब ग्रन्थ-पठन में मूल प्राकृत के शब्दों में एकरूपता का अनुभव हुआ तब पुस्तकालय में उपलब्ध प्रतियों से मिलान किया और हमें वहाँ विभिन्न प्रतियों के शब्दों में अनेकरूपता दृष्टिगत हुई। तब प्रासंगिक समयसार की "मुन्नुडि" अर्थात् पुरोवाक् (दो शब्द) पढ़ना पड़ा ताकि उसमें संपादक की संशोधन दृष्टि मिल जाय। संपादक ने उसमें लिखा है :

1. "पाठ संशोधन की अथवा संपादन की हमारी शैली इस प्रकार रही है - **हमने विभिन्न प्रतियों के पाठ-भेद संग्रह किये। प्रसंग और ग्रन्थकार के अभिप्रेत के अनुसार उचित पाठ को प्राथमिकता दी। प्राथमिकता देते हुए अमृतचन्द्र के मन्तव्य को अवश्य ध्यान में रखा। जहाँ अमृतचन्द्र मौन हैं वहां जयसेन के मन्तव्य को पाठ के औचित्य के अनुसार स्वीकार किया।"** - मुन्नुडि, पृ. 13 (पुरोवाक्)

2. **"समयसार की मुद्रित और लिखित प्रतियों में अधिकांश भूलें भाषा-ज्ञान की कमी के कारण हुई हैं।"** - मुन्नुडि, पृ. 10 (पुरोवाक्)

3. **"अधिकांश कमियां जैन-शौरसेनी भाषा के रूप को न समझने का परिणाम हैं।"** - मुन्नुडि, पृ. 12 (पुरोवाक्)

संपादक के उक्त वक्तव्य को पढ़ कर यह जानने में देर न लगी कि -

(क) संपादक ने पाठ-भेद संग्रह किये और अपनी समझ से जो उन्हें उचित जान पड़ा उस पाठ को रखा : अर्थात् किसी प्रति को आदर्श नहीं माना।

(ख) हम नहीं समझे कि जब प्राकृत शब्द के रूपभेद में अर्थ-भेद न होता हो, तब प्राकृत शब्द रूपो के चयन में संपादक ने प्रसंग को कैसे देखा ? अर्थात् पुग्गल हो या पोग्गल हो दोनों शब्द रूपों के अर्थ में अभेद है - इससे प्रसंग और अर्थ दोनों में अन्तर नहीं पड़ता - तब प्रसंग से शब्द चयन कैसे किया और कैसे जाना कि यहां पोग्गल है या पुग्गल आदि ?

(ग) उन्होंने शब्द-चयन में ग्रन्थकार कुंदकुंद के अभिप्रेत को कैसे जाना कि कुंदकुंद ने अमुक स्थान पर अमुक शब्द का अमुक रूप रखा है ? जबकि कुन्दकुन्दाचार्य की स्व हस्त लिखित कोई प्रति है ही नहीं और जब संपादक स्वयं ही लिखित और मुद्रित प्रतियो को भूल युक्त कह रहे हैं।

(घ) प्राकृत शब्द रूपों के चयन में संपादक ने अमृतचन्द्र आचार्य के मन्तव्य को कहां से जान लिया जबकि प्राकृत शब्द रूप के विषय में उक्त आचार्य मौन हैं और केवल संस्कृत में व्याख्याकार हैं।

(च) संपादक का यह कथन कि उन्होंने "जयसेन के मंतव्य को स्वीकार किया" भी सर्वथा मिथ्या है क्योंकि उन्होंने विभिन्न गाथाओं में जयसेनाचार्य द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शब्द रूपों में पाठ की औचित्यता देखने की विद्वता दिखाई और जहां इन्हें औचित्यता नहीं दिखी वहां शब्द-रूप बदल दिया - ऐसा

इनकी मुन्नुडि से फलित है । इन्होंने औचित्यता परखने का माप-दण्ड भी नहीं बताया ।

(छ) संपादक के पास कौन सा व्याकरण है जो कुंदकुंद से पूर्व था और जैन-शौर सेनी का प्राकृत में हो ?

ऐसी अवस्था में संपादक के बयान के अनुसार यह निष्कर्ष निकला कि यह प्रसंग प्राकृत-भाषा की एकरूपता करने जैसा है । फलतः - तब प्राकृत के प्रसिद्ध वेत्ता डा॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये, डा॰ हीरालाल जैन, डा॰ नेमीचन्द जैन, आरा के मन्तव्य जानने का प्रयास करना पड़ा और ज्ञात हुआ कि उन्होंने दिगम्बर आगमों की प्राकृत-भाषा के रूप का परीक्षण कर निष्कर्ष तो निकाला कि वह प्राकृत (पश्चाद्वर्ती व्याकरण से भेद को प्राप्त दायरों से ऊपर) सार्वजनिक प्राकृत है - उसमें कई रूप विद्यमान हैं । पर, वे यह कहने व करने का साहस न कर सके कि अमुक-अमुक शब्दों के अमुक-अमुक रूप आगम में नहीं हैं या आगम में शब्दों का अमुक रूप ही है । वे शब्द रूपों के बदलाव (इधर-उधर करने) की हिम्मत भी न कर सके - जिसे इन्होंने शब्द रूपों को इधर-उधर करके दिखा दिया । हमने डा॰ जगदीशचन्द्र जी द्वारा निर्दिष्ट व्याकरणविभक्त भाषा-भेद के प्रारम्भिक काल को भी पढ़ा - जो काल, प्रासंगिक आगमो के निर्माता आचार्य कुंदकुंद से सदियों बाद का है । फलतः ऐसा लगा कि यह ठीक नहीं हो रहा और तब लिखने के संकल्प-विकल्प उठने लगे-हम सोचते ही रहे, कि -

सन् 79 में हमें इन्हीं संपादक जी द्वारा संपादित "रयणसार" की जयपुर से प्रकाशित प्रति भी मिल गई । इसके "पुरोवाक" में संपादक जी ने वेदनादायक जो शब्द लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं :

'मुद्रित कुन्दकुन्द साहित्य की वर्तमान भाषा अत्यन्त-भ्रष्ट और

अशुद्ध है। यह बात केवल 'रयणसार' के मुद्रित संस्करणों के संबध में ही नहीं, कुंदकुंद के सभी प्रकाशित ग्रन्थों के बारे में है।' - पृ॰ 7

'रयणसार' में उक्त पंक्तियाँ लिखते हुए माननीय सम्पादक को यह भी ध्यान न आया कि सन् 74 में कुंदकुंद भारती (जिसके संस्करणों को ये शुद्ध कहते हैं) से प्रकाशित 'रयणसार', जिसे भट्टारक चारुकीर्ति जी द्वारा प्रदत्त ताडपत्रीय प्रति पर अंकित प्रति की चित्र अनुकृति कहा गया है तथा जिस रयणसार के पुरो-वचन में सिद्धान्तचक्रवर्ती, समय प्रमुख, प्रवचनपरमेष्ठी उपाधिधारी आचार्य श्री विद्यानन्द जी द्वारा (आगम भाषा मान्य) निम्न गाथा उद्धृत की गई है -

'दव्वगुण **पज्जएहिं** जाणइ परसमय ससमयादि **विभेयं**।
अप्पाणं **जाणइ** सो **सिवगइ** पहणायगो **होइ**॥'

उक्त गाथा को बदलकर उक्त संपादक जी ने शुद्धकर निम्नरूप में कर सिद्ध कर दिया है कि 'समय प्रमुख' भी गलत बयानी कर सकते हैं और कुंदकुंद भारती' का प्रकाशन भी अशुद्ध है। पर हम मानने को तैयार नहीं कि 'सिद्धान्त चक्रवर्ती पद पर स्थित महान विभूति एसी गल्ती कर सकेंगे। इनके द्वारा बदला रूप नीचे दिया जा रहा है। विज्ञ देखें --

'दव्वगुण **पज्जयेहिं** जाणदि परसमय ससमयादि **विभेदं**।
अप्पाणं **जाणदि** सो **सिवगदि** पहणायगो **होदि**॥'

संपादक जी द्वारा उक्त 'पुरोवाक' में **आगम भाषा को अत्यंत भ्रष्ट और अशुद्ध घोषित करना तथा पूर्वजों को भाषा से अजान बताना, जिनवाणी और पूर्वजों का घोर अपमान था।** यदि ऐसा अपमान किसी अन्य के धर्मग्रन्थ या उसके विद्वान् का (उस संबध में) हुआ होता तो

अवश्य भयानक परिणाम संभव था । पर, अहिंसा प्रधान धर्मियों के लिए वह काम 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' में खो गया और इनका काम **प्रवचन परमेष्ठी** की आड़ लेकर चलता रहा । पू० आचार्य श्री के सान्निध्य में कवच में सुरक्षित ये निश्चिन्त और सब लोग भयाक्रान्त और मौन जैसे थे कौन बोलता या हिम्मत करता । पर, इस दर्द में इधर चुप न बैठा गया और हमने सन् 1980 के अनेकान्त में इसका प्रतिवाद पहिली बार किया । जब लम्बे अर्से के बाद भी सुनवाई नहीं हुई तब उसी बात को दुहराने के लिए सन् 82 में उसे 'जिनशासन के विचारणीय प्रसंग' पुस्तक में छपाया जिसे पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने समर्थन दिया ।

फिर जब सन् 87 मे इनके द्वारा ऐसा ही संशोधित (?) 'नियमसार' आया तब वीर सेवा मन्दिर की प्रबुद्ध कार्यकारिणी ने यह सोचकर कि 'कहीं जिनवाणी' के परम्परित प्राचीन मूल रूप का लोप ही न हो जाय' इस रूप–बदलाव का अनेकान्त द्वारा विरोध का प्रस्ताव किया । फलत: – सन् 88 ई० मे लेख पुन: चालू हुए और कार्यकारिणी के निर्णयानुसार त्यागियों व विद्वानों की सम्मतियाँ मँगा कर एक पत्रक भी छपाया गया । फिर भी कोई फल न हुआ । हालांकि ये इस विरोध से खबरदार थे - **बारामती** आदि में ये इस प्रयत्न में भी रहे कि कुछ विद्वानों से ये अपने बदलाव-पक्ष को पुष्ट करा सकें । पर,-----?

निश्चय ही आचार्य जयसेन, जिन्होंने कुंदकुंद के ग्रन्थों की व्याख्या प्राकृत शब्द रूपों को उद्धृत करते हुए की है, वे अपने पश्चाद्वर्ती विद्वानों में प्रकृष्टतम हैं और समय में भी हमारी अपेक्षा कुंदकुंद के अधिक निकट हैं । समयसार की विभिन्न गाथाओं में उनके द्वारा उद्धृत विभिन्न गाथाओं के विभिन्न शब्द रूपों को संपादक महोदय ने बदल कर प्राकृत को एकरूपता दे दी । शायद संपादक विशेष प्राकृतज्ञ

हों और उन्हें वर्तमान सम्मानित विद्वानों के समर्थन का भरोसा भी हो। पर आधुनिक किसी भी विद्वान् को जयसेनाचार्य से अधिक ज्ञाता नहीं माना जा सकता जिन्हें इन्होंने अमान्य कर दिया। फिर मैं तो विद्वानों की चरणरज तुल्य भी नहीं, जो उक्त संशोधनों का समर्थन कर सकूँ। पश्चाद्वर्ती व्याकरण से तो शुद्धिकरण सर्वथा ही असंगत है। फलतः - आगमरक्षा के लिए हम सद्भाव में अपनी बात लिखते रहे और सम्पादक मौन अपना काम निबटाते रहे।

सन् ८० से चले हमारे लेखों के 12 साल बाद 11-2-93 को अचानक उक्त संपादक जी एक साथी के साथ मेरे पास आए और बोले - हम समयसार का नया संस्करण छपा रहे हैं। पहिले संस्करण का आपने भारी विरोध किया था। अब आप संशोधन दे दीजिए, हम विचार लेंगे। मैंने कहा - **आगम में संशोधन देने की मुझ में क्षमता नहीं और न ऐसा दुःसाहस ही।** मैं मेरी भावना को अनेकान्त के संस्करणों में दे चुका हूँ। मैं परम्परित मूल में हस्तक्षेप का पक्षधर नहीं। इसपर संपादक जी ने मुझसे संबंधित अनेकान्त मांगे और मैंने दे दिए। साथ में पत्रक भी दे दिया, वे चले गए।

उसके बाद क्या हुआ इसकी लम्बी कहानी है। मेरा व वीर सेवा मन्दिर का जैसा सार्वजनिक अपमान किया कराया गया वह आगत पत्रों व टेप में बन्द है। इस बीच हम पर लोगों के दबाव भी पड़े कि हम चुप रहें। लोगों ने हमें यहां तक भी कहा कि वे स्वयं हमसे सहमत हैं और उन्हें भी दुख है। पर, 'अकेला चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता' और 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते' कहावत भी है अतः चुप रहना ही ठीक है, आदि। लेकिन हम यह सोचकर कि 'धर्म रक्षकों पर सदा ही संकट आते रहे हैं' - हम भाँति-भाँति के भय दिखाने पर भी - घिराव व त्यागपत्र की चेतावनी सुनकर भी भयभीत नहीं हुए और आगम-रक्षा

में दृढ़ हैं और अन्तिम क्षण तक दृढ़ रहने में संकल्पबद्ध हैं –धर्म हमारी रक्षा करेगा ।

आगम संशोधक महोदय ने जैसा कि प्राकृत विद्या पत्र के जुलाई-दिसम्बर 93 अंक में लिखा वैसा हमें विश्वास नहीं होता कि वे कभी अनेकान्त के संपादक या वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी के सदस्य रहे हैं और वीर सेवा मन्दिर ने कभी उन्हें मनोनीत करने की भूल की हो ? हाँ, संशोधक इस सचाई को अवश्य स्वीकार कर रहे हैं कि अनेकान्त में प्रकाशित लेखों में उनका कहीं भी नाम नहीं लिया गया। पर फिर भी वे अनेकान्त पर 'परनिन्दोपजीवी' होने का आरोप लगा रहे हैं । उत्तर में मैं उन्हें 'परप्रशंसोपजीवी' कहना बड़प्पन नहीं समझता ।

यहाँ से यद्यपि किसी व्यक्ति विशेष को इंगित कर नहीं लिखा जाता फिर भी लोग लेखनी की स्पष्टता से 'चोर की दाढ़ी में तिनका' जैसी कहावत से ग्रस्त हो जाँय तो यह उनका ही गुण है - हमारा दोष नहीं ।

कहा जा रहा है कि उनकी कुंदकुंद भारती को बदनाम किया जा रहा है । पर ऐसा है नहीं । वीर सेवा मंदिर तो प्राचीन परम्परागत आगम के मूल रूप को सुरक्षित रखने के लिए उनकी ही नहीं, सबकी कुंदकुद भारती (आगम) पर लादी हुई विकृति के निवारण का प्रयत्न ही कर रहा है, जो संशोधक ने कर रखी है । यह तो पहिले भी कहा जा चुका है कि इधर सभी आगम रूपी कुंदकुंद भारती के न बदलने की बात कर रहे हैं, किसी व्यक्ति विशेष या किसी संस्था विशेष की बात नहीं ।

यदि संशोधक द्वारा दिगम्बरों की श्रद्धास्पद आगम भाषा को भ्रष्ट कहना अपराध नहीं, तो जन-जन की मान्य शुद्ध भाषा को विरूप करने पर उसे ध्वंस (करना) कहना अपराध क्यों? और ऐसे ध्वंस पर दाता को चेतावनी देना अनिष्टकर कैसे?

संशोधक जी संग्रहीत सभी प्रतियों में मूड़बिद्री की प्रति (जिसकी प्रतिकृति ये अपने समयसार को कह रहे हैं) को (भी) अपेक्षाकृत (ही) शुद्धमान रहे हैं यानी वह भी पूर्णशुद्ध नहीं थी और पुन: उसे संपादक जी ने व्याकरण और छन्द शास्त्र की दृष्टि से स्वयं शुद्ध किया गया बताया है (प्राकृतविद्या दिसंबर ९३)। इससे पुन: यह सिद्ध हुआ है कि इनकी प्रति मूड़बिद्री की प्रति की शुद्ध प्रति कृति नहीं है।

इनके उक्त कथन से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि उसके शुद्धिकरण में इनके द्वारा अपनाया गया व्याकरण कुंदकुंद से पूर्वकालीन है या वही है जिसके आधार पर कुंदकुंद ने ग्रन्थ रचना में शब्दों का चयन किया? या कुंदकुंद के बाद का कोई अन्य व्याकरण?

हाँ, वैसे समयसार पृष्ठ 2 पर सम्पादक ने पोग्गल शब्द की रूप-सिद्धि में बारहवीं सदी के हेमचन्द्र के 'ओत्संयोगे' सूत्र का उल्लेख किया है और दिनांक 20-2-93 के पत्र में हमें भी लिखा है कि 'संयुक्त अक्षर आगे रहने पर पूर्व के उकार का ओकार हो जाता है।' सो यदि कुंदकुंद ने अपनी रचनाओं में हैम-व्याकरण को आधार बनाया है तो वे स्वयं ही ईस्वी पूर्व के नहीं, अपितु हैमचन्द्र के समय के बाद के सिद्ध होते हैं। तो क्या संशोधक आचार्य कुंदकुंद को हैमचन्द्र के बाद तक ले जाना चाहते हैं? अन्य पंथी तो यह चाहते ही हैं? खेद:

दूसरी बात। यदि संपादक जी आचार्यवर को- (व्याकरण के) उक्त सूत्र से बंधा मानते हैं और उनकी रचना को व्याकरण से (जिसे वह प्राकृत में जरूरी कहते हैं) निर्मित मानते हैं और उस हिसाब से शुद्धिकरण का दावा करते हैं तो उन्होंने अपने संशोधित समयसार में सभी ऐसे शब्दों में - जिनमें संयुक्त अक्षरों के पूर्व उकार विद्यमान है, उस उकार को ओकार क्यों नहीं किया? जबकि व्याकरण के नियम में अपवाद नहीं होता। और उक्त सूत्र में विकल्प का कोई संकेत नहीं।

यदि वे व्याकरण के हामी हैं तो निम्न शब्दों (अन्य बहुत से भी) के रूपों को क्यों नहीं बदला –

गाथा 5 में 'चुक्कंज्ज' को 'चोक्कंज्ज' नहीं किया ।

गाथा 45 में 'बुच्चदि' को 'बोच्चदि' नहीं किया ।

गाथा 58 में 'मुस्सदि' को 'मोस्सदि' नहीं किया ।

गाथा 72 में 'दुक्खस्स' को 'दोक्खस्स' नहीं किया ।

गाथा 74 में 'दुक्खा' को 'दोक्खा' नहीं किया । आदि ।

संशोधक का यह कथन भी गलत है कि उनके पत्रों के उत्तर नहीं दिए गए । उनके 15-2-93 के पत्र के उत्तर में उनके निराकरण के साथ, महासचिव ने स्पष्ट लिखा कि पण्डित पद्मचन्द्र शास्त्री से बात करने पर उन्होंने कहा - "इस विषय में वह पहले ही लिख चुके हैं, उनका अभिमत है कि एक ही ग्रन्थ में एक शब्द को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में दिया गया है । उनकी दृष्टि में वे सभी ठीक हैं । जिस जगह जिस शब्द का जो रूप प्रयुक्त हुआ है आगे भी वही होना चाहिए । शब्द को बदल कर एकरूपता लाने के चक्कर में मूलरूप में बदलाव से प्राचीनता नष्ट होती है । आवश्यक होने पर कुछ पाठ-भेद स्पष्ट करना भी पड़े तो उसे टिप्पणी में दिया जाना चाहिए । मूल गाथा के स्वरूप को बदला नहीं जाना चाहिए । उसे अक्षुण्ण रहना ही चाहिए । यह मत केवल मेरा ही नहीं, अनेक उच्चकोटि के मूर्धन्य विद्वानों का भी है ।"

3 मार्च 93 के पत्र में यहाँ से फिर लिखा गया - 'शास्त्री जी का कहना है कि जिस ग्रन्थ में जो शब्द जिस रूप में आया है वहां उसका वही रूप रहना चाहिए । उनका विरोध तो यही है कि व्याकरण की

दृष्टि से किसी आगम के मूल शब्द को सुधार के नाम पर बदलना आगम को विरूप करना है । कृपया मूडबिद्री ग्रन्थ की प्रति शीघ्र भिजवाने की कृपा करें ।' – इसी पत्र में यह भी लिखा था कि – आपने कहा था कि आपके द्वारा प्रकाशित 'समयसार' ग्रन्थ मूडबिद्री के ताडपत्र पर लिखित प्रति पर आधारित है – आप उस ग्रंथ की छाया प्रति भिजवा दें । उसमें कुछ खर्चा भी हो तो हम सहर्ष आप को देंगे –।

13 मार्च 93 को वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी की ओर से भी प्रति भेजने के लिए मंत्री कुंदकुंद भारती से निवेदन किया गया – उन्हें यह भी लिखा कि 'यदि आपका समयसार उसी की सत्य प्रति है तो वीर सेवा मन्दिर अपनी सभी आपत्तियाँ सखेद वापस ले लेगा । यही मांग पंडित बलभद्र जी ने अपने 10-3 93 के पत्र में रखी है ।'

खेद है कि संशाधक महोदय ने कुंदकुद द्वारा प्रयुक्त 'पोग्गल' रूप की सिद्धि में स्वयं की ओर से परवर्ती हैमचन्द्र के सूत्र का सहारा लेकर भविष्य में दिगम्बरों को पीछे फैंकने के लिए, श्वेतांबरों को यह रिकार्ड तैयार कर दिया है कि वे सहर्ष कह सकें कि 'समयसार' के शब्द - रूपों की सिद्धि में कुंदकुंद द्वारा हैम-व्याकरण का अनुसरण करने की बात से यह सिद्ध है कि – कुंदकुंद का अस्तित्व हैमचन्द्र के बाद का है ओर उक्त उल्लेख एक सिद्धान्तचक्रवर्ती दिगम्बराचार्य की प्राकृत संस्था से प्रकाशित ग्रन्थ में होने से सर्वथा प्रामाणिक और सत्य है ।

प्रश्न होता है कि यदि 'पोग्गल' रूप का निर्माण (जैसा संपादक का मत है) व्याकरण से हुआ तो पहिले उसका रूप क्या था? यदि उसका पूर्व रूप (जैसा कि अवश्यंभावी है) 'पुग्गल' था, तो वह शब्द का प्राकृतिक – जनसाधारण की बोली का स्वाभाविक रूप है और 'पोग्गल' रूप से प्राचीन भी । ऐसे प्राचीन 'पुग्गल' रूप का बहिष्कार

करना कौनसी बड़ी बुद्धिमानी है ?

और यदि 'पोग्गल' शब्द को प्राकृत का रूप मानते हैं (जैसा कि कहा भी जा रहा है) तो उसमें व्याकरण का उपयोग क्या? वह तो प्राकृत अर्थात् जन-जन की बोली का स्वाभाविक रूप है ही। यदि वह रूप जन-जन की बोली का स्वाभाविक रूप नहीं तो पश्चाद्वर्ती व्याकरण से संस्कारित तथा परापेक्षी होने से उसे प्राकृत का नहीं कहा जा सकता। फलतः प्राकृत भाषा के स्वरूप के अनुसार दोनों ही रूप व्याकरण निरपेक्ष-असंस्कारित-प्रान्त प्रान्त की जन भाषाओं के विभिन्न स्वाभाविक रूप हैं। और यह सभी मान रहे हैं कि भाषा का रूप पाँच कोस के अन्तराल से स्वयं स्वाभाविक रूप में परिवर्तित होता रहता है।

प्राकृत भाषा के स्वरूप के विषय में कहा गया है - **'सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।'** - अर्थात् व्याकरणादि के संस्कारों से रहित, लोगों का स्वाभाविक वचन व्यापार अथवा उससे उत्पन्न वचन प्राकृत है! **संशोधक महोदय ने स्वयं भी लिखा है कि - "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा प्रकृतीणां सर्वसाधारणजनानामिदं प्राकृतम्।' अर्थात् प्रकृति स्वभाव से सिद्ध भाषा प्राकृत है अथवा सर्व साधारण मनुष्य जिस भाषा को बोलते हैं, उसे प्राकृत कहते हैं।"**

उक्त विश्लेषण के अनुसार प्राकृत भाषा, पश्चाद्वर्ती-व्याकरण के नियमों के बन्धन से मुक्त है और न प्राकृत भाषा में बना प्राकृत भाषा का कोई स्वतंत्र व्याकरण ही है और हो भी तो क्यों? जब कि इस भाषा में कोई निश्चित बन्धन ही नहीं। आज प्राकृत के नाम से उपलब्ध सभी व्याकरण संस्कृतज्ञों को बोध देने के लिए संस्कृत में ही निबद्ध हैं और उनमें कोई भी कुन्दकुन्द जैसा प्राचीन नहीं है।

यह तर्क सिद्ध बात है कि संसार में विभिन्न भाषाओं के जो भी व्याकरण हैं वे सब (पहिले) अपनी भाषा में ही हैं - संस्कृत का संस्कृत में, हिन्दी का हिन्दी में, गुजराती का गुजराती में, इंगलिश का इंगलिश में, आदि । इस प्रकार प्राकृत में कोई व्याकरण नहीं । क्योंकि व्याकरण 'संस्कार' करने के लिए होता है और प्राकृत में संस्कार का विधान न होने से इस भाषा में इसके संस्कार के लिए किसी व्याकरण की रचना नहीं की गई ।

दिव्य-ध्वनि में अठारह महाभाषाएँ और सात सौ लघु भाषाएँ गर्भित होती हैं और उसे पूर्णश्रुतज्ञानी, समय प्रमुख (गणधर) द्वादशांगों में विभाजित करते हैं और यह जिनवाणी कहलाती है और परम्परित आचार्य इस वाणी को इसी रूप में वहन करते रहे हैं । आचार्य गुणधर, धरसेन, भूतवली, पुष्पदन्त और कुन्दकुन्द आदि इसी सार्वजनीन वाणी के अनुसर्ता रहे और उनकी रचनाएं भी इसी भाषा में हुई । इस भाषा में आधी भाषा मगध देश की और आधी भाषा में अन्य सभी प्रान्तों की भाषाएँ अभेद रूप से गर्भित रहती हैं । इस भाषा का व्याकरण से कोई संबंध नहीं होता । प्राचीन आगमों की यही भाषा है और इस परम्परित भाषा में परिवर्तन या शोधन के लिए किसी को कुंदकुंद स्वामी या किसी प्राचीन आचार्य ने कभी अधिकृत नहीं किया और अभी तक किसी ने किसी में व्याकरण द्वारा उलट फेर करने का दुःसाहस भी नहीं किया जैसा अब करने का दुःसाहस किया जा रहा है । अब तक भी शास्त्रारम्भ में हम पढ़ते रहे हैं कि —

'अस्यमूलग्रंथस्यकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्री गणधर-देवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचानुसारमासाद्य—आचार्येण विरचितम् ।' ऐसी स्थिति में कैसा व्याकरण और कैसा शोधन? और किसके द्वारा?

दिगम्बराचार्यों ने अपनी रचनाओं में एक ही शब्द को विविध रूपों

में प्रयुक्त किया है और इस प्रकार के अनेक शब्दरूप हैं । और 'कुन्दकुन्द शब्दकोश' में भी कुन्दकुन्द द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अनेक रूप (विविध ग्रन्थों के उद्धरणों सहित) उद्धृत हैं और यह शब्दकोश आचार्य श्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद में उदयपुर से प्रकाशित है । कुन्दकुन्द के विविध शब्द रूपों की झलक उक्त कोश से जानी जा सकती है और यह कोश उपयोगी है ।

यहाँ से अब तक अपना कुछ नहीं लिखा गया है - उक्त संपादक की कथनी और करनी पर ही चिन्तन दिया गया है और वह भी आगम-रक्षा करने की दिशा में । वरना यहाँ इनसे किसे क्या लेना देना?

प्रसंग संशोधित समयसार (कुंदकुंद भारती प्रकाशन) का है इसके पुरोवाक् के निर्देशानुसार - **सुयकेवली**, **भणियं**, **ऊणप्रत्ययान्त शब्द**, **इक्क**, **चुक्किज्ज**, **घित्तव्वं**, **हविज्ज**, **गिण्हइ**, **कह**, **मुयइ**, **जाण**, **करिज्ज**, **भणिज्ज** और **पुग्गल** शब्द रूपों को आगम भाषा से **बाह्य घोषित कर** उनके बदले में क्रमशः **सुदकेवली**, **भणिदं**, **जाणिदूण-णादूण**, **सूणिदूण** आदि, **चुक्केज्ज**, **घेत्तव्वं**, **हवेज्ज**, **गिण्हदि**, **किह**, **मुयदि**, **जाणे**, **करेज्ज**, **भणेज्ज** और **पोग्गल** शब्द रूप कर दिए गए हैं । जबकि आगमों में दोनों प्रकार के शब्द रूप मान्य हैं तब किन्हीं रूपों को आगम भाषा बाह्य घोषित कर, संशोधन करना आगम को विरूप अथवा एकरूप करना है । यदि संशोधक के फार्मूले को सही माना जाय तब तो दिगम्बरों के सभी प्राकृत मूल-आगम शब्द रूपों को अशुद्ध मानना पड़ेगा और उनमें भी संशोधन करना पड़ेगा, जैसा कि हमें स्वीकार नहीं । हमें तो आगम में गृहीत सभी शब्दरूप प्रामाणिक हैं - सही हैं । हम किसी भी रूप के बहिष्कार के विरूद्ध हैं ।

संशोधक द्वारा आगम-भाषा बाह्य घोषित कुछ शब्द रूप, जिन्हें मान्य आचार्यों ने ग्रहण कर मान्यता दी है, और संशोधक ने बदलकर

जयसेन जैसे प्राकृतज्ञ आचार्यों की अवमानना की है । हम यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं कि हमारे आचार्यों ने भूल की और गलत शब्द रूपों का चयन किया । देखें आचार्यों द्वारा गृहीत वे कुछ शब्द रूप जिन्हें संशोधक ने बदल दिया है ।

समयसार (आचार्य जयसेन टीका) गाथा 27, 36, 37, 73, 199 में **इक्क** व **इक्को** । गाथा 17, 35, 373 में **ऊण** प्रत्ययान्त । गाथा 5 चुक्किज्ज । गाथा 23, 24, 25, 45, 2, 101, 172, 196, 199 में **पुग्गल** । गाथा 33 में **हविज्ज** । गाथा 300 में **भणिज्ज** । गाथा 44, 68, 103, 249 में **कह** । गाथा 2, 142 में **जाण** । इसके अतिरिक्त यदि समयसार के विभिन्न प्रकाशनों का देखा जाय तो उनमें -

चुक्किज्ज शब्द रूप निम्न प्रकाशनों में उपलब्ध हैं - सोनगढ़ 1940, कोल्हापुर 1908, जे॰ एल॰ जैनी 1930, अजमेर 1969, अहिंसा मंदिर 1959 भावनगर IV, बनारस, जबलपुर, मदनगंज, फलटण, ज्ञानपीठ, सहारनपुर, काशी, रोहतक, कलकत्ता, फलटण शास्त्राकार, मारोठ, नातेपूते ।

हविज्ज शब्द रूप - सोनगढ, रोहतक, कलकत्ता, कोल्हापुर, अजमेर, जे॰ एल॰ जैनी, फलटण, मारोठ, नातेपूते, अहिंसा मन्दिर, भावनगर VI, जयपुर 1983, 1986 ।

भणिज्ज शब्द रूप - सोनगढ, रोहतक, कलकत्ता, कोल्हापुर, अजमेर, जे॰ एल॰ जैनी, मारोठ, नातेपूते, जयपुर 1986, अहिंसा मन्दिर, बनारस, भावनगर IV, VI, जबलपुर, सोनगढ, ज्ञानपीठ, सहारनपुर, कारंजा ।

ऊण प्रत्ययान्त (धवला 1 1 1) पृ॰ 70 **चिंतिऊण/** पृ॰ 71/ **दाऊण/** पृ॰103 **सहिऊण/** पृ॰ 71/ **काऊण/** पृ॰ 139 **गेण्हिऊण/** पृ॰ 66 **होऊण** ।

उक्त प्रकार से अन्य आगमों में विभिन्न स्थलों में दोनों प्रकार के शब्द रूप उपलब्ध हैं । किसी भी शब्द रूप को आगम से बाह्य नहीं किया जा सकता । जब इधर से सही मानने की बात कही जाती है, तब वे शब्दों को एकरूप करके और अन्य रूपों को बहिष्कृत करके लोगों से पूछते हैं कि हमारा कौनसा रूप गलत है । कहते हैं - हमारा शब्द आगम का ही तो है - हमने कहाँ बदला । पर, यह तो वीर सेवा मन्दिर द्वारा टिप्पण देने की बात कहकर पहिले प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया था कि उपलब्ध अन्यरूप को टिप्पण में दिया जाना चाहिए (आदर्श प्रति के रखने का प्रयोजन भी यही है) ऐसा करने से एकरूपता का परिहार होता है और सभी प्रकार के रूप होने की पुष्टि भी होती है कि आगमों में अमुक शब्दों के अन्य रूप भी हैं । पर, बारम्बार कहने पर भी टिप्पण देना इन्हें शायद इसीलिए स्वीकार नहीं हुआ हो कि इन्हें तो व्याकरण से अन्य शब्द रूपों का बहिष्कार कर एकरूपता करनी इष्ट थी, जैसी कि इन्होंने बहिष्कार (आगम बाह्य होने) की घोषणा भी कर दी और एकरूपता भी करके दिखा दी ।

इन्हें इतना भी ध्यान न आया कि इनके ऐसे व्यवहार से साधारण जनता भ्रमित होगी और वर्तमान में व्याकरण से शुद्धि को महत्व देने वाले (प्राकृत से अनभिज्ञ) सहज ही कहेंगे कि - प्राचीन आगमों की भाषा भ्रष्ट थी और अमुक के द्वारा व्याकरण से शुद्ध किए गए शब्द रूप शुद्ध हैं, आदि । आखिर, इन्हें ऐसा ध्यान आता भी तो क्यों? जब कि इनका उद्देश्य ही भविष्य में, आगमों के संशोधक होने की ख्याति लाभ का बन चुका हो - लोग कहें कि कोई ऐसे भी ज्ञाता हुए जिन्होंने आगम-भाषा की शुद्धि की । ठीक ही है ख्याति की चाह क्या कुछ नहीं करा लेती? इन्होंने इसी चाहना में जल्दी जल्दी कई ग्रन्थों को एक रूप कर दिया और हम चिल्लाते ही रहे । ठीक ही है - 'समरथ को

नहिं दोष गुँसाई ।' - पर फिर भी हम कह दें 'अपना मेरा कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर' - हमने संशोधक के कथन पर ही विचार किया है, **पाठक उनके 'पुरोवाक्' के प्रकाश में चिन्तन करें -- उनके सभी कथन विरोधाभासी हैं ।**

ध्यान रहे कि विभिन्न चिन्तकों के विभिन्न विचार हो सकते हैं । पर सभी निर्विवाद हों यह संभव नहीं । और न यह ही संभव है कि सभी ज्ञाता पूर्वाचार्यो के मनोभावों को जान सकने में समर्थ हो सकें । फलत: आज की व्याख्याएँ विवाद का विषय बन कर रह गई हैं और उनसे आगमों के कथन की निश्चिति में भी सन्देह बन रहा है ।

अब ऐसा विवाद व्याख्याओं तक सीमित न रहकर मूल पर भी चोट करने लगा है और प्राकृत (जनबोली) के मूल शब्द रूपों में भी परवर्ती व्याकरण द्वारा एकरूपता लाई जा रही है । यह तो संशोधक ही जाने कि प्राकृत में व्याकरण के आत्मघाती प्रयोगों की शिक्षा पाने के लिए उन्होंने किस विश्वविद्यालय को चुना और किस डिग्री को कहाँ से प्राप्त किया - या संशोधक ने किस गुरू को चुना? हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं । हमारा तो स्पष्ट मत है कि कोई अन्य किसी भी अन्य की रचना में उलट फेर या शब्द चयन का अधिकार लेखक की अनुमति के बिना नहीं कर सकता । विधि यही है कि यदि किसी को मतभेद हो या पाठ--भेद मिले तो उसे टिप्पण में अंकित करे । ताकि प्राचीनता-विविधता और मूलरूप का लोप न हो । और हम प्रारम्भ से यह ही कहते रहे हैं और कहते रहेंगे-किसी से कोई समझौता नहीं । हमारे आगम परम्परित जिस रूप में हैं प्रामाणिक हैं ।

हम लिखते हैं और बिना किसी के नाम को इंगित किए ही सचाई लिखते हैं और प्रस्तुत प्रसंग में भी संपादकीय 'पुरोवचन' को लक्ष्य कर ही सभी बातें लिखी हैं । फिर भी आश्चर्य है कि जो यह स्वीकार करें

कि उनका कहीं नाम नहीं लिया गया – वे भी हमें तीखे वचनों की भेंट, घिराव कराने और 'परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा' जैसी धमकी – (जिससे हम किसी संभावित भावी दुर्घटना के प्रति चिन्तित हों) देने के बाद भी पुनः हमें धृष्ट वचन कहें ताकि हम किसी प्रभाव में आकर अपना न्यायसंगत मत बदल कर पूर्वाचार्यों को अपमानित करें और आगम–भाषा को भ्रष्ट मान लें। सो यह तो हमसे अन्तिम साँस तक न हो सकेगा। हम तो यह सन् ४४ में ही लिख चुके हैं कि– "हमें अपनी कोई ज़िद नहीं, जैसा समझे लिख दिया– विचार देने का हमें अधिकार है और आगम रक्षा धर्म भी।" हम फिर कह दें कि हम किसी व्यक्ति या संस्था के विरोधी नहीं, आगम–रक्षा के पक्षपाती हैं और यह हमारी श्रद्धा का विषय है और हमारे लिए सही है। हम कुन्दकुन्दाचार्य और जयसेन प्रभृति आचार्यों से अधिक ज्ञाता अन्य को नहीं मानते और न ही मानेंगे।

शास्त्रीय निर्णय शास्त्रों से होते हैं। डराने, धमकाने, उत्तेजित होकर क्रोध करने अथवा अपमान जनक शब्दों के शस्त्रों से नहीं। जहां तक जिनवाणी की रक्षा का प्रश्न है, कोई भी श्रद्धालु अपना सिर तक कटा सकता है।

– सम्पादक

• • •

एक उपयोगी उपलब्धि :

पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी की प्रेरणा से सम्पन्न

कुन्दकुन्द शब्दकोश

पाठक पू. आचार्य श्री से सुपरिचित हैं। वे 'ज्ञानध्यानतपोरक्त स्तपस्वी स प्रशस्यते' के अनुरूप और आगम के प्रशस्त ज्ञाता हैं। उनकी प्रेरणा में संपादित उक्त कोश यथानाम तथा गुण है। डॉ. प्रेम सुमन जैसे मनीषी के सक्रिय सहयोग ने इसे चार चाँद लगा दिए हैं। डॉ. उदयचन्द जी उदयपुर के श्रम का तो कहना ही क्या? कोश के संकलन में उन्हें कहाँ कितने ग्रन्थों का आलोडन करना पड़ा होगा इसकी साक्षी कोश ही दे रहा है। कोश में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा गृहीत प्राकृत के विविध शब्दरूप जैसे : सुयकेवली। सुदकेवली। इक्क। एक्क। घित्तव्वा। घेत्तव्वो। कह। किह। पुग्गल। होइ। हादि। होऊण। होदूण आदि स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि आ. कुन्दकुन्द व्यापक प्राकृत भाषा के अपूर्व ज्ञाता थे और उन्होंने सर्व बन्धनों से रहित प्राकृत भाषा का खुलकर उपयोग किया है।

ऐसे समय में जब कि भाषा विवाद उठ खड़ा हुआ है, उक्त कोश उस विवाद के निर्णय में उपयोगी और सक्षम है। और क्यों न हो, जब दो प्राकृत मनीषियों ने इसमें पूरा श्रम किया है। हमें स्मरण है कि जब हमने पत्र और अनेकांत भेजकर डॉ. प्रेम सुमन से भाषा और संपादन के विषय में सम्मति चाही तब उन्होंने खुलकर स्पष्ट रूप में जो सम्मति भेजी वह उक्त कोश के सर्वथा अनुरूप थी (वह सम्मति इसी पत्रिका में अन्यत्र अंकित है)। हम समझते हैं कि उक्त कोश में आचार्य श्री का आशीर्वाद प्रथम है, उन्हें सादर नमोऽस्तु। संकलनकर्ता और डॉ. प्रेम सुमन के श्रम को देखकर उनमें हमारी श्रद्धा जगी है कि वे आगम भाषा के संरक्षण में सक्षम हैं - उनके अभ्युदय की कामना है।

प्रकाशक - श्री दि. जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी 302, विवेक विहार, दिल्ली -95। मूल्य पाँच रुपया, पाकिट साइज, पृ. 353।

संपादक